कवि प्रसाद, 'आँसू'

तथा अन्य कृतियाँ



प्रारम्भिका

आधुनिक कविता की पृष्ठभूमि पर 'प्रसाद' के कवि का यह निरीक्षण है। उन्होंने अपने अतीत को कितना ग्रहण किया, वर्तमान को कितना प्रभावित किया और भविष्य की एक स्वप्न-द्रष्टा की तरह कितनी कल्पना की; इन प्रश्नों का उत्तर इसमें खोजने की नम्र चेष्टा की गई है।

'प्रत्येक कलाकार अतीत का फल और भविष्य का बीज होता है'—यह एक आँग्ल आलोचक का प्रसिद्ध कथन है। 'प्रसाद' इसके अपवाद न थे। उन्होंने अपने 'अतीत' से—हिन्दी की प्राचीन काव्यपरम्परा से—बहुत कुछ आत्मसात् किया। उसी की भूमि पर खड़े होकर उनके कवि का स्वर मुखरित हुआ। ब्रजभाषा काव्य के माधुर्य से उनकी कल्पना के पर सिक्त थे। वर्तमान खड़ी बोली का संदेश लेकर उनकी ओर निहार रहा था। कवि ने पुरातनवाद का 'चोला' शीघ्र ही फेंक दिया। उससे उन्हें इतनी विरक्ति हो गई कि आठ वर्ष पूर्व ब्रजभाषा में लिखे अपने एक काव्य को उन्होंने दुबारा खड़ी बोली मे लिख डाला। पर खड़ी बोली के 'अक्खड़पन' को उन्होंने ग्रहण करने की चेष्टा नहीं की। बँगला और संस्कृत भाषा के अध्ययन का परिणाम यह हुआ कि उनकी रचनाओं म 'कोमल कांत पदावली' क्रमशः मुसकुराने लगी। 'प्रसाद' की भाषा के इसी गुण ने उन्हें सबसे आगे

खींच कर खड़ा कर दिए आध्यात्मवाद की भावना हिंदी काव्य साहित्य में आज 'की देन नही है—'प्रसाद' की भी नहीं। लौकिक-अलौकिकता का चक्र सदा से चलता रहा है।

काल 'अति' का सतुलन करता रहता है। हिन्दी साहित्य का इतिहास इस तथ्य की साक्षी देता है। बौद्ध सिद्धों और नाथों के सूखे उपदेश-कथन ने निर्गुणवादी सनो में भावना की एक लहर बहाई पर जब वह जनसाधारण की रस-प्यास बुझाने में समर्थ न हो सकी तब 'सगुण भक्तिवाद' लोक-भावना को अपनी ओर खीचन लगा, परन्तु सगुणभक्ति के प्रसिद्ध प्रतीक—राधा-कृष्ण—न इतनी व्यापकता धारण की कि वे धीरे धीरे किसी भी सलोनी स्त्री और सलोन पुरुष मे झाँकने लगे। रीतिकाल भक्तिवाद के अतिरेक का ही परिणाम था। रीतिकाल को लौकिकवाद का युग कहना चाहिय। इस युग का कवि किसी भी 'आलम्बन' मे लौकिक विकारों की अभिव्यक्ति करता रहा है। आधुनिक युग ने लौकिकवाद-युग के अतिरेक के विरोध में अपनी आँखे खोलीं। प्रारम्भ में उसमें बीती 'रात' की खुमारी का रहना स्वाभाविक था। अतः 'विकार' वे ही रहे पर उन पर अलौकिकता की 'छाया' डालने का अभिनय अवश्य किया गया। (यह मै नही कहता कि आधुनिक काव्य में आध्यात्मिकता प्रेरणा के रूप मे बिलकुल नही है। मेरे कहने का आशय इतना ही है कि वह जहाँ है वहाँ इतने कम परिमाण में है कि उसे युग की व्यापक भावना कहना आत्मप्रवंचना होगी।) यह कार्य भावों—विकारों—की अभिव्यंजना-प्रणाली विशष के द्वारा किया गया, जो 'छायावाद' के नाम से पहचानी जाती है।

जड़वाद की इस शताब्दी में काव्य के चक्र का रूप सर्वथा 'अलौकिक होना सभव था भी नही। यही कारण है कि 'प्रसाद' के कवि मे एसे क्षण बहुत कम आय हैं जब वे अपने 'जड़' को भूल कर एकदम चतन' में खो गये हों। हाँ, वे 'जड़' में ही इतने अधिक केन्द्रित हो सके है कि उसमें ही उन्होंने 'चेतन का आरोप कर उसका 'आध्यात्मीकरण' (Sublimation) कर दिया है। यही कवि की महत्ता है और इसी से व इतने लोकप्रिय हो सके है।

आँसू' में 'लौकिक' के 'अलौकिक' सौंदर्य ने 'वर्तमान' को खूब प्रभावित किया। इस छोटे से काव्य का छन्द इतना अधिक प्रचलित हुआ कि स्व० पं० अवध उपाध्याय ने अपने 'नवीन पिंगल' मे 'आँसू' की

पंक्तियों के छन्द का नामकरण ही 'आँसू-छन्द' कर दिया। वास्तव में यह आनन्द छन्द है जिसमें १४–१४ के विश्राम से २८ मात्रायें होती हैं। हिन्दी के अधिकांश आधुनिक कवि 'आँसू' के किसी न किसी रूप में आभारी हैं। सन् १९३८ में भारतीय साहित्य-परिषद् के मराठी मुख पत्र 'विहंगम' के एक अंक मे श्री वि० वा० बोरवणकर ने आँसू छन्द' ही में 'आँसू" का मराठी में अनुवाद प्रकाशित कराया है। हिन्दी पाठकों के मनोरंजनार्थ यहाँ दो पद्य दिये जाते हैं :—

इस करुणा कलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती ?
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती ?
(हिन्दी)

ह्या करुण कलित हृदयांत, कां विकल रागिणी वाजे ?
कां हाहाकार स्वरांत आसीम वेदना गर्जे ?
(मराठी)

बुलबुले सिन्धु के फूटे, नक्षत्र मालिका टूटी।
नभ मुक्त कुन्तला धरणी, दिखलाई देती लूटी॥
(हिन्दी)

बुडबुडे सिन्धु चे फुटले, नक्षत्रमालिका तुटली।
नभ मुक्त कुन्तला जगती, भासते अता लुटलेली॥
(मराठी)

हाल ही तरुण कवि 'अनिल कुमार' ने भी उसका मधुर मराठी अनुवाद किया है, उसकी भी बानगी यहाँ दी जाती है :—

बस गई एक बस्ती है, स्मृतियों की इसी हृदय में
नक्षत्र-लोक फैला है, जैसे इस नील निलय में।
(हिन्दी)

वसती ही एक स्मृतींची, वसली या हृदयापाशी।
हा तारालोक पसरला, जैसा या नीलाकाशी॥
(मराठी)

ये सब स्फुलिंग हैं मेरी, उस ज्वालामयी जलन के।
कुछ शेष चिह्न हैं केवल, मेरे उस महामिलन के॥
(हिन्दी)

उरि जळत[illegible]म ज्वाळेचे, स्फुल्लिंग सर्व हे भरले।
माझ्या त्या मिलन स्मृती चे, हे चिन्ह मात्र जे उरले।
(मराठी)

बाडव ज्वाला सोती थी, इस प्रणय-सिंधु के तल में।
प्यासी मछली-सी आँखें थीं विकल रूप के जल में॥
(हिन्दी)

वडवानल भरला होता, या प्रणय सिंधु उपरांत।
जणुं तृषित मीन हे नेत्र, व्याकुल त्या रूपजलांत॥
(मराठी)

बुलबुले सिन्धु के फूटे, नक्षत्र मालिका टूटी।
नभ-मुक्त-कुन्तला धरणी, दिखलाई देती लूटी॥
(हिन्दी)

बुडबुडे सिंधुचे फुटले, नक्षत्र मालिका तुटली।
नभ-मुक्त-कुंतला धरणी, भासते अता जणु लुटली॥
(मराठी)

बेसुध जो अपने सुख से, जिनकी हैं सुप्त व्यथायें।
अवकाश भला है किनको, सुनने को करुण कथायें॥
(हिन्दी)

बेसुध जे सुखात अपुल्या, वेदना प्रसुप्त जयांच्या।
अवकाश कुणाला येथे, ऐकाया करुण कथा या?
(मराठी)

जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति-सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बन कर, वह आज बरसने आई॥
(हिन्दी)

जो घनीभूत पीडा ती, स्मृतिरूपें भरली भाली।
दुर्दिनी आसवें बनुनी, ही आज वर्षण्या आली॥
(मराठी)

बिजली माला पहने फिर, मुसक्याता-सा आँगन में।
हाँ, कौन बरस जाता था, रस बूँद हमारे मन में॥
(हिन्दी)

विद्युत माला लेवून स्मित करित अंगणीं येई।
तो कोण मानसी अमुच्या, रस-बिंदु जाई ?

(मराठी)

कितनी निर्जन रजनी में, तारों के दीप जलाये।
स्वर्गंगा की धारा में उज्ज्वल उपहार चढ़ाये!

(हिन्दी)

अगणित निर्जन रजनींत, ताऱ्यांचे दीप उजळले।
स्वर्गंगेच्या धारेंत, उज्ज्वल उपहार उधळले॥

(मराठी)

गौरव था, नीचे आये, प्रियतम मिलने को मेरे।
मैं इठला उठा अकिंचन, देखे ज्यों स्वप्न सबेरे॥

(हिन्दी)

किति गौरव ! प्रियतम माझे, भेटाया आले खाली।
मा हर्षित, एक अकिंचन, पाहे जणुं स्वप्न सकाली॥

(मराठी)

चंचला स्नान कर आवे, चन्द्रिका पर्व में जैसी।
उस पावन तन की शोभा, आलोक मधुर थी ऐसी॥

(हिन्दी)

नाहून चंचला येई, ज्योत्स्ना पर्वणींत जैसी।
त्या पावन तनुची शोभा, होती किरणोज्वल ऐसी॥

(मराठी)

इससे प्रकट होता है कि 'आँसू' ने हिन्दी-जगत् को ही नहीं, अहिन्दी भाषा-भाषियो को भी 'रस'-सिक्त किया है। हिन्दी के गीति-काव्यों में 'आँसू' को सबसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। 'प्रसाद' सजग कलाकार थे, वे अपने वातावरण से सकेत ले उसे अपनी भावनाओं से भरने की क्षमता ही न रखते थे, वे भविष्य की चिन्तना को भी पहचान सकते थे। इसी से 'कामायनी' में कोरी भावुकता हमें नही मिलती। विज्ञान-युग का बुद्धिवाद भी, जो प्रगति के निकट है, उसमें तैर रहा है। सामंजस्य-प्रवृत्ति होने से उन्होंने प्राचीन और आधुनिक मान्यताओं का सफल एकीकरण किया है। इधर कामायनी के अंग्रेजी और संस्कृत रूपान्तर भी प्रकाशित हुए है।

फिर भी 'प्रसाद' के काव्य में एक कमी है, जो उसका कदाचित् वैशिष्ट्य भी कहा जा सकता कि वह अधिकांश में संकेतात्मक होने के कारण Mass-appeal (जनसाधारण में प्रविष्ट होने) की क्षमता नहीं रखता। विश्व-विद्यालयों से यदि उसकी मान्यता हट जाय, तो सम्भवतः औसत बुद्धि के व्यक्ति उसे विस्मृत करने में ही सुख अनुभव करें। यह कटु कथन है, पर निष्ठुर सत्य है।

पुस्तक लिखते समय यह सजगता रही है कि 'प्रसाद'-साहित्य विद्यार्थियों से दूर न रह पाये। इसीलिए 'आँसू' की दुरूह समझी जानेवाली समस्त पंक्तियों की भीतरी भावनाओं को समझने की चेष्टा की गई है। क्योंकि 'आँसू' ही ऐसी रचना है, जिसमे कवि ने अपने को अधिक से अधिक व्यक्त किया है। यदि कवि को समझने में पाठकों की अभिरुचि को जरा भी सचेष्ट करने में यह पुस्तक सहायक हो सकी तो लेखक अपने श्रम को अव्यर्थ समझेगा। तृतीय संस्करण में पुस्तक में कई परिवर्तन और परिवर्धन किए गए है। डा० सिद्धेश्वर जी वर्मा ने बडी रुचि से 'आँसू' तथा इस ग्रन्थ को पढने का श्रम उठाया है। उनके बहुमूल्य सुझावों से लाभ उठाया गया है। अतः लेखक उनका हृदय से कृतज्ञ है।

नागपुर महाविद्यालय, नागपुर
दीपमालिका
सं० २००६ वि०

—विनयमोहन शर्मा

आधुनिक हिन्दी-कविता

और

'प्रसाद'

'आधुनिक' की व्याख्या करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही लिखा है कि "पत्रा-पंजी मिला कर 'आधुनिक' की सीमा का निर्णय कौन करे ? यह बात काल से उतना सम्बन्ध नहीं रखती, जितना भाव से रखती है।...नदी आगे की तरफ सीधी चलते-चलते हठात् टेढी होकर मुड़ जाती है। साहित्य भी इसी प्रकार सीधा नहीं चलता। जब वह मुड़ता है तब उस मोड़ को ही 'मॉडर्न' या 'आधुनिक' की संज्ञा दी जाती है।"

हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से प्रारम्भ होता है। आधुनिकता की ओर पहली 'मोड़' के दर्शन उन्ही के समय से होते हैं। भारतेन्दु-काल सन् १८६५ से १९०० के लगभग माना जाता है। भारतेन्दु के पूर्व हिन्दी कविता रीतिकालीन युग की आत्मा से उच्छ्वसित हो रही थी।

रीतिकालीन काव्य में मानव शरीर के प्रति रीझ-बूझ प्रबल थी। उसके भावसिक सौन्दर्य के साथ तादात्म्य स्थापित करने की बहुत कम चेष्टा की गई। उसमें व्यक्त विश्व से अदृष्ट सत्ता का आभास अनुभव नहीं किया गया। राधा-कृष्ण की ओट में लौकिक स्त्री-पुरुषों का उद्भ्रान्त शृङ्गार वर्णित किया गया; जैसा कि भिखारीदास की निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है—

"आगे के कवि रीझि हैं तो कविताई
नतरु राधिका गोविंद सुमिरन को बहानो है।"

यदि हम यह कहें कि रीतिकालीन काव्य में वात्स्यायन के काम-सूत्रों की व्याख्या अधिक है, तो अनुचित न होगा।

उसमें मानव प्रकृति की सूक्ष्म भावनाओं पर कम ध्यान दिया गया। बाह्य प्रकृति (वन-उपवन, गिरि, सरिता, उषा-संध्या) की भी उपेक्षा की गई। प्रकृति 'आलम्बन' नहीं, उद्दीपन के रूप में ग्रहण की गई।

रीतिकालीन काव्य में जीवन के विभिन्न व्यापारों के प्रति उदासीनता पाई जाती है। उसमें एकाङ्गीपन अधिक है। इस युग में काव्य की आत्मा के अतिरिक्त उसके बाह्य अंग पर अधिक आग्रह प्रदर्शित किया गया। आचार्यत्व की प्रधानता रही।

भारतेन्दु-काल तक आते-आते रीतिकालीन धारा बेपानी-सी बन गई थी। उसमें प्राचीन कवियों के भावों की पुनरावृत्ति के कारण बासीपन आ गया था। अतः भारतेन्दु के समय में नई दिशा की ओर स्वभावतः हिन्दी-कविता मुड़ी। उसमें भाषा और विचारों में परिवर्तन दिखाई देने लगा। ब्रज-भाषा के स्थान पर खड़ी बोली की ओर प्रवृत्ति होने लगी। नये-नये विषयों का समावेश हुआ। देश की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक समस्याओं का झुँझलाहट भरा आवेग प्रकट होने लगा। यह अंग्रेजी साम्राज्यशाही की दृढ़ता का काल था। १८५७ के विप्लव को निर्दयता से दबा कर अंग्रेज भारत पर जम कर राज्य करने लगे थे। जनता भीतर ही भीतर क्षुब्ध हो रही थी। उसकी वाणी मुखर नहीं हो पाई थी। इसमें सन्देह नहीं; बँगला और अङ्गरेजी साहित्य के अध्ययन ने भी हिन्दी कवियों की दृष्टि में विस्तार भर दिया। अतएव उनमें नायक-नायिकाओं के नख-शिख-वर्णन से पूर्ण शृङ्गारी रचनाओं के प्रति विशेष आसक्ति नहीं रह गई। वे देश में क्रमशः सुलगने वाली जीवन-व्यापी चेतना के प्रति तटस्थ न रह सके। अतः उनकी रचनाओं में देश-प्रेम, समाज-सुधार आदि के विचारों ने प्रवेश किया, परन्तु फिर भी मानव के स्थूल का आकर्षण लुप्त नहीं हो गया और यह संभव था भी नहीं।

स्त्री-पुरुष का आकर्षण चिरंतन सत्य है, पर यह आवश्यक नहीं है कि इस आकर्षण में लैङ्गिक ज्वार उठना ही चाहिये। रसेलवादी भले ही कुछ अमेरिकन स्त्रियों की इस आकांक्षा को विज्ञापित करें कि "बहुत सी सम्भ्रान्त घराने की स्त्रियाँ तक कुछ घंटों के लिये वेश्या बन कर उस जीवन का अनुभव लेने को बेतहाशा ललच उठती हैं" और उनके इस कथन का विश्लेषण बदनाम अनैतिकवादी मनोवैज्ञानिक ब्रंटेल रसेल इन शब्दों

में भले ही करे कि "स्त्री-पुरुष स्वभावतः क्रमशः बहु पुरुष-स्त्रीगामी होते हैं। वे कुछ या बहुत काल तक भले ही एक व्यक्ति के प्रेम में बँधे रहें, पर एक समय आता है जब उनकी प्रेम की ज्वाला बुझने लगती है और वे अपने में नया उभार लाने के लिये नए साथी की खोज में व्यग्र हो जाते हैं।" जो रसेल के व्यक्तिमत जीवन से परिचित हैं, उन्हें उसके इस निष्कर्ष में—जहाँ तक उसका व्यक्तिगत अनुभव है—अतिरंजन नहीं दिखाई देगा। रसेल के स्त्री-पुरुष सम्बन्धी सिद्धान्तों को बहु मान्यता प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि उनसे समाज की स्थिति में प्राकृतिक सुधार की आशा नहीं की जाती। स्त्री-पुरुष का देह से ही नहीं, मन से भी सबल और स्वस्थ होना आवश्यक है। मन की भ्रामरी-वृत्ति अस्वस्थता का चिह्न है। अतः जिस साहित्य में मन के अनियंत्रित चांचल्य का चित्रण होगा, उसमें कला का 'सुन्दरम्' भले ही हो, पर जीवन का 'शिवम्' कदापि नहीं दिखाई देगा!

अथर्ववेद में एक उच्छिष्ट-सूक्त है। उसमें 'उच्छिष्ट' की बहुत प्रशंसा की गई है। 'यंग बिल्डर' में श्रीक्षितिमोहन सेन ने उस सूक्त की निम्न शब्दों में बड़ी सुन्दर व्याख्या की है—"मनुष्य और जगत् की सारी समृद्धि उच्छिष्ट है। उपभोग के बाद जो कुछ रह जाता है, उसी में से उसकी उत्पत्ति होती है। जिस वस्तु का हमने उपभोग किया, उसका तो क्षय हुआ और जो अवशेष रह गया, उसी में से मानव इतिहास, सभ्यता, संस्कृति, धर्म, कला, सौन्दर्य और बन्धुत्व आदि तत्वों की उत्पत्ति हुई। भोग-विलास में तृष्णा का अंश अधिक होता है। इसलिए जो कुछ सामग्री मिलती है सबका उपभोग हो जाता है; कुछ अवशेष नहीं रहता। उसमें उच्छिष्ट न रहने से सृष्टि को निर्माण के लिए अवकाश नही मिलता। कामोपभोग की तृष्णा तो वध्या स्त्री के समान है और सृजनहार में लोभ तृष्णा कुछ भी नहीं। इसलिये वह सतत काल सृष्टि कर सकता है।"

यही कारण है कि परकीया नायिका, शठ नायक, दूती-लीला आदि की ऊहात्मक रचनाओं में काम-विज्ञान की बारीकियाँ भले ही विशद रूप से दीख पड़ती हों, पर उनमें जीवन की प्राकृतिक स्थिति का अभाव ही पाया जाता है। उनसे न तो सृजनहार जी पाता है और न उनका आस्वादी।

काव्य में शृङ्गार रस के सम्बन्ध में स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा ने लिखा है—"शृङ्गार रस के काव्यों में परकीया आदि का प्रसंग कुरुचि का उत्पादक होने से नितान्त निन्दनीय कहा जाता है। यह किसी अंश में ठीक हो सकता है, पर ऐसे वर्णनों से कवि का अभिप्राय समाज को नीतिभ्रष्ट और कुरुचि-

सम्पन्न बनाने से नहीं होता, ऐसे प्रसंग पढ़ कर धूर्त, विटों की गूढ़-लीलाओं का दाँव-घात से परिचय प्राप्त करके सभ्य समाज अपनी रक्षा कर सके, इस विषय में सतर्क रहे—यही ऐसे प्रसंग-वर्णन का प्रयोजन है। काव्यालंकार के निर्माता रुद्रट ने भी यही बात दूसरे ढँग से कही है—

" नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः।
कर्त्तव्यतयांन्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः।
किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति।
आराधयितुं विदुषस्ते न दोषः कवेरत्र।"

परन्तु शृङ्गारी कविता की उपयोगिता को सिद्ध करने के लिए जो तर्क स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा ने प्रस्तुत किए हैं, वे किसी भी अनैतिक कृत्य का नैतिक अभिप्राय बन सकते हैं। काव्य में 'शृङ्गार' के हम विरोधी नहीं हैं, पर "यहि पाखे पतिव्रत ताखे रखौ"* में हम फिसलन ही पाते हैं; जिससे कलाकार के लिए अमर सृजन की कुछ भी सामग्री 'उच्छिष्ट' नहीं रह पाती। जो 'वस्तु' उसमें सृजन की प्रेरणा भर सकती है वही जब 'भुक्त हो जाती है तब उसकी 'कला' का सिन्दूर ही पुछ जाता है—उसकी सिहरन सदा के लिये सो जाती है। भोग-शृङ्गार का वर्णन इसीलिए कल्याणकारी है।

हमारे साहित्य में, वर्षों से 'भोग-शृङ्गार' (जिसमें काम-शास्त्र की ही पद्य-बद्ध विवेचना है) की जो लहर बह रही थी, वह हरिश्चन्द्र-काल में एकदम कैसे रुक सकती थी? हाँ, उसमें एक परिवर्तन अवश्य हुआ कि जहाँ रीतिकालीन कवि 'नारी' के शरीर तक ही अपनी दृष्टि दौड़ा सके, वहाँ भारतेन्दु-काल के कवियों ने उसके अतिरिक्त भी, जैसा कि ऊपर कहा गया है, अपने चारों ओर झाँकने का भी प्रयास किया। इसी से जहाँ भारतेन्दु ने—

" तेरी अँगिया में चोर बसैं गोरी।
छोड़ि दे किन बंद चोलिया पकरैं चोर हम अपनो री।" †

जैसी रीतिकालीन परम्परा के अनुरूप 'होली' लिखी, वहाँ उन्होंने अपने देश की दशा पर चार आँसू भी बहाये—

" सोई भारत भूमि भई सब भाँति दुखारी।
रह्यो न एकहु वीर सहस्रन कोस मँझारी॥

---

* भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।

† भारतेन्दु ग्रंथावली, दूसरा भाग

होत सिंह को नाद जौन भारत बन माहीं।
तहँ अब ससक सियार स्वान खर आदि लखाहीं॥
जहँ भूसी उज्जैन अवध कन्नौज रहे वर।
तहँ अब रोवत सिवा चहूँ दिसि लखियत खँडहर॥
धन विद्या बल मान वीरता कीरति छाई।
रही जहाँ तित केवल अब दीनता लखाई॥"

आपके समकालीन लेखकों में भी देश की सामयिक अवस्था के प्रति झुकाव पाया जाता है। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा है—

"भारत घोर समान है, तू आप मसानी।
भारतवासी प्रेत से, डोलत हैं कल्यानी॥
हाड़-माँस नर-रक्त है, भूतन की सेवा।
यहाँ कहाँ मा, पाइये, चंदन घी मेवा॥"

इसी प्रकार स्व० पं० प्रतापनारायण मिश्र ने भी अपनी व्यंगात्मक शैली में "सर्वसु लिये जात अंगरेज"—की आवाज़ बुलन्द की थी। भारतेन्दु के घनिष्ठ मित्र मध्यप्रदेश के स्व० ठा० जगमोहन सिंह ने ऋतु संहार' में 'भारत' की ब्रज-भाषा में स्तुति की है। *

इस तरह हम देखते है कि इन कवियों ने राधा-कृष्ण की काम-क्रीड़ा की छलकन से कुछ विरक्त हो, अपनी स्थिति पर विचार करना प्रारंभ कर दिया था। यहाँ 'विचार' शब्द का प्रयोग मैं साभिप्राय कर रहा हूँ, क्योंकि उस समय कविताओं से विभिन्न-सिद्धान्तों के प्रचार का ही कार्य लिया जाता था। उनमें मानसिक कोमल भावनाओं का उन्मेष बहुत कम था। उनका उद्देश्य सामयिक समस्याओं की ओर जनता का ध्यान खींचना भर था।

जिस प्रकार भारतेन्दुकालीन कविता नवीन विषयों की ओर झुकी, उसी प्रकार उसकी भाषा में भी ब्रज-भाषा के स्थान पर खड़ी बोली का क्रमशः प्रवेश होने लगा। भारतेन्दु बाबू ने परिमार्जित ब्रज-भाषा में अधिकांश रचनाएँ की हैं, क्योंकि वे उसे ही पद्य के लिए उपयुक्त समझते

---

* भुव मधि जंबू द्वीप द्वीप सम अति छबि छायो।
तामें भारतखंड मनहुँ विधि आपु बनायो॥

थे। † फिर वे भी, खड़ी बोली के एकदम विरोधी न थे। कुछ रचनाएँ उन्होंने खड़ी बोली में भी की हैं, पर उनका तर्ज उर्दूआना है। उनकी एक गजल की पंक्ति है—

"ज़ुल्फों को लेके हाथ में, कहने लगा वह शोख।
गर दिल को बाँधना है तो काकुल से बाँधिये।"

अमीर खुसरो की भाति उन्होंने मुकरियाँ भी लिखी है—

'आँखों घूरे भरा न पेट।
क्यों सखि! सज्जन, नहि ग्रेजुएट॥'

आपके समकालीन कवियों ने भी खड़ी बोली को कुछ अंश में अपना लिया था, पर उसमें ब्रज-भाषा के चलते शब्दों—रूपों का भी वे मेल कर दिया करते थे। * (भाषा में सुधार का कार्य स्व० आचार्य पं० महावीर प्रसादजी द्विवेदी द्वारा बाद में प्रारम्भ किया गया।)

कुछ समय तक हिन्दी के विद्वानों में "कविता के लिए खड़ी बोली उपयुक्त है अथवा ब्रज-भाषा?" पर वाद-विवाद चलता रहा। एक पक्ष कहता था—"कविता के लिए ब्रज-भाषा ही अपनाई जानी चाहिए, क्योंकि उसमें माधुर्य खड़ी बोली की अपेक्षा बहुत अधिक है।" दूसरा पक्ष ब्रज-भाषा

---

† "पश्चिमोत्तर देश की कविता की भाषा ब्रज-भाषा है, यह निश्चित हो चुका है और प्राचीन काल से लोग इसी भाषा में कविता करते आते हैं, परन्तु यह कह सकते हैं कि यह नियम अकबर के समय के पूर्व नहीं था, क्योंकि मलिक मुहम्मद जायसी और चन्द की कविता विलक्षण ही है और वैसे ही तुलसीदास जी ने भी ब्रज-भाषा का नियम भंग कर दिया। जो हो, मैंने कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊँ, पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी। इससे यह निश्चय होता है कि ब्रज-भाषा ही में कविता करना उत्तम होता है और इसी से सब कविता ब्रज-भाषा में ही उत्तम होती है।"

—भारत दुर्दशा (हरिश्चन्द्र)

* "देखो चिराग़ पर जलता है परवाना।
प्यासा मरता है स्वाती पर चातक दाना।
मधुकर गुलाब के काँटों में उलझाना।
निरखत मयंक नित चतुर चकोर चकराना।"

—प्रेमधन

को एक प्रान्त की भाषा मानता था और कहता था जब खड़ी बोली का प्रचार देश में बढ़ता जा रहा है, तब कविता क्यों एक प्रान्तीय भाषा में लिखी जाय ? तीसरा पक्ष भाषा के झगड़े को मिटाने के लिये यह कहता था कि कविता ब्रज-भाषा और खड़ी-बोली दोनों में लिखी जा सकती है। अतएव विषय के अनुरूप भाषाओं का प्रयोग किया जाना चाहिए। इसलिए हम देखते है कि भारतेन्दु बाबू के समय और उनके कुछ समय बाद भी हिन्दी के कवि दोनों भाषाओं में कविता किया करते थे। अतएव स्व० आचार्य पं० महावीर प्रसादजी द्विवेदी के सरस्वती का सम्पादन-भार ग्रहण करने के पूर्व कोई कवि केवल खड़ी बोली में ही रचना करने के लिए प्रसिद्ध नहीं हुआ। द्विवेदीजी ने ही खड़ी बोली को हिन्दी-कविता का वाहन बनाया। 'वर्ड्स्वर्थ' के समान उनका भी मत था कि बोलचाल की भाषा में गद्य ही नही, पद्य भी लिखा जा सकता है और लिखा जाना चाहिए। "It may be safely affirmed that there is neither is nor can be any difference between the language of prose and metrical composition." 'वर्ड्स्वर्थ' का यह स्वप्न सत्य न हो सका, पर द्विवेदीजी के लिए वह सत्य ही सिद्ध हुआ—इस रूप में कि गद्य और पद्य की भाषा एक हो गई।

इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

"गद्य और पद्य की भाषा पृथक्-पृथक् न होनी चाहिए।" आपने कविता-कलाप की भूमिका में, जो २ फ़रवरी १९०९ में लिखी गई थी, यह भविष्यवाणी भी की थी कि "इस पुस्तक की अधिकांश कविताएँ बोलचाल की भाषा में हैं।...इस तरह की भाषा...में लिखी गई कविता दिन पर दिन लोगों को अधिकाधिक पसन्द आने लगी है। अतएव बहुत सम्भव है कि किसी समय हिन्दी गद्य और पद्य की भाषा एक हो जाय।"

द्विवेदी-काल (यह लगभग सन् १९०४ से १९२० तक माना जा सकता है) में देश में राष्ट्रीयता और देश की एकता की भावना लहराने लगी थी और हिन्दी अपनी सरलता के कारण स्वयं राष्ट्र-भाषा बनती जा रही थी। तब द्विवेदीजी के समान भविष्य-द्रष्टा ने यह अनुभव किया कि जब गद्य की भाषा खड़ी बोली हो रही है, तब पद्य की भाषा एक प्रान्त की उपभाषा (ब्रज-भाषा) नहीं रह सकती। देश के अन्य प्रान्तवासियों तक अपने साहित्य को पहुँचाने के लिए हमें खड़ी बोली ही में अपने गद्य-पद्य दोनों को पल्लवित करना होगा।

यद्यपि भारतेन्दु युग में कविता में नये विषय और नयी भाषा की ओर कवियों का ध्यान गया अवश्य, पर उसकी अभिव्यञ्जना प्रणाली में—ढाँचे में—कोई परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। वही पुराने छन्द (कवित्त सवैया आदि) वही पिष्टपेषित अलङ्कार ! रचनाएँ रूढ़ि-शृंङ्खला से जकड़ी हुई दीखती हैं। कभी-कभी विरहा, गजल, रेखता और कजली छन्दों में भी कविताएँ मिलती हैं। पर इन छन्दों की ओर प्रवृत्ति उन्हीं कवियों की पाई जाती है, जो उर्दू-फ़ारसी से विशेष परिचित थे। (हरिश्चन्द्र के समय हिन्दी छन्दों का प्रचलन नहीं हुआ था। हरिश्चन्द्र और उनकी प्रेमिका मल्लिका ने बँगला छन्दों को अपनाया था।) मुक्तक * रचनाएँ ही इस काल में मुख्यतः लिखी गईं। पर विषय में 'आश्रय' की अन्तर्वृत्ति की छाया न रहने से वे विशेष रसवती न बन सकीं।

भारतेन्दु के पश्चात् स्व० आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के 'सरस्वती' का सम्पादन-भार ग्रहण करने पर हिन्दी-साहित्य उन्हीं को केन्द्र बना कर गतिशील हुआ। हिन्दी साहित्य पर क्रमशः उनका प्रभाव फैल गया। लगभग सन् १९०४ से सन् १९२० तक उन्हीं की साहित्यिक मान्यताओं और विश्वासों को अधिकांश हिन्दी साहित्यकारों ने अपनाने की चेष्टा की। आधुनिकता की दूसरी मोड़ के दर्शन यहीं से होते हैं। अतएव काव्य सम्बन्धी उनकी धारणाओं को जान लेना आवश्यक है। आप लिखते हैं—

"अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है। नाना प्रकार के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन में नहीं समाते, तब वे आप ही आप मुख के मार्ग से (क़लम की राह भी उनके लिए रुँधी हुई नहीं है —लेखक) बाहर निकलने लगते हैं; अर्थात् वे मनोभाव शब्दों का स्वरूप धारण करते हैं। यही कविता है।"......"आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज समझ

---

* मुक्तक—उसे कहते है जो 'मुक्त' है—स्वतंत्र है, जिसका सम्बन्ध पिछले पद्यों से नहीं है और न जो आनेवाले पद्यों की भूमिका है। जिस अकेले पद्य ही में विभाव-अनुभाव आदि से परिपुष्ट इतना रस भरा हुआ हो कि उसके स्वाद से श्रोता पाठक तृप्त हो जायें, सहृदयता की प्यास बुझाने को उसे अगली-पिछली कथा का सहारा न लेना पड़े, वह 'मुक्तक' कहलाता है। हिन्दी में 'मुक्तक' को ही 'फुटकर कविता' कहते हैं।' मुक्तक' म कवि को 'गागर' में 'सागर' भरना पड़ता है। इसीलिए ऐसे काव्य में सौन्दर्य भरने के लिए कवि को शब्दों की अभिधा शक्ति से कम, ध्वनि व्यञ्जना से अधिक काम लेना पड़ता है। बिहारी के 'दोहे' मुक्तक का अच्छा उदाहरण कहे जाते हैं।

रखा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही भेद है, जो अंग्रेज़ी की 'पोइट्री' (Poetry) और 'वर्स' (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य को पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता, वह कविता नहीं; वह नपी तुली शब्द-स्थापना मात्र है।"

आचार्य चूंकि मराठी पद्य-साहित्य से भली भाँति परिचित थे अतः हिन्दी कविता में भी मराठी भाषा सी गद्यात्मकता वे ले आए। पर इसमें भी सन्देह नहीं कि कविता की व्यापक व्याख्या द्वारा उन्होंने आधुनिक कविता की कई नई प्रवृत्तियों का द्वार खोल दिया। उसके विषय, उसकी भाषा, उसकी अभिव्यञ्जना-प्रणाली आदि में हमें हरिश्चन्द्र—काल से अधिक विस्तार और अधिक आधुनिकता दिखलाई देती है। यह बात दूसरी है कि उनकी व्याख्या के अनुसार उनके काल की कविता अपने को सँवार न सकी।

कविता के विषय के सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी जी लिखते हैं—

"चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त, पथ-भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त, जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है, फिर क्या कारण है कि इन विषयों को छोड़ कर कोई-कोई कवि स्त्रियों की चेष्टाओं का वर्णन करना ही कविता की चरम सीमा समझते हैं? केवल अविचार और अन्ध-परम्परा।" † विषयों की व्यापकता बढ़ाने पर भी द्विवेदी काल में 'स्त्रियों की चेष्टाओं' के वर्णन की 'इति' नहीं हो गई। आचार्य द्विवेदीजी द्वारा सम्पादित 'कविता कलाप' में संग्रहीत ४६ कविताओं में से लगभग ३६ कविताएँ 'स्त्री' सम्बन्धिनी हैं। आचार्य स्वयं स्त्रियों की चेष्टाओं के वर्णन से अपनी लेखनी को दूर नहीं रख सके। 'प्रियंवदा' के विषय में उनकी निम्न पंक्तियाँ पढ़िये—

" यह है प्रियंवदा पति-प्यारी।
कुल कामिनी पारसी नारी।

---

† आचार्य के पश्चात् पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कविता की व्यापक समीक्षा की—उसके उपकरणों की व्याख्या की। उन्होंने भी कविता का क्षेत्र व्यापक बताया है। वे लिखते हैं—काव्य दृष्टि कहीं तो १—नर-क्षेत्र के भीतर रहती है, कहीं २—मनुष्येतर बाह्य सृष्टि के और ३—कहीं समस्त चराचर के। आज के कवि, चाहे वे जिस "वाद" का लेबल लगा कर लिखें, कविता के विषय की व्यापकता का आग्रह बराबर प्रदर्शित कर रहे हैं। वे हिमालय की उच्चता का ही अंकन नहीं करते, 'गरम पकौड़ी' पर भी लिख कर उल्लसित होते हैं; कनखजूर, मच्छर, खटमल, नागिन भी उनके काव्य-विषय हो रहे हैं।

इसकी रुचिर रेशमी सारी।
तन की द्युति दूनी विस्तारी।

× × ×

पुरुषों में भी जाना इसने।
मंद मंद मुसकाना इसने।
सुधा-सलिल बरसाना इसने।
ज़रा नहीं शरमाना इसने।
कचकलाप बिखराये कैसे?
सम्मुख सुघर बनाये कैसे?
दर्शक दृग यदि उन पर जाते।
फिर वे नहीं लौटने पाते।"

द्विवेदी-युग के अन्य कवियों ने भी नारी के शरीर-वर्णन का लोभ संवरण नहीं किया। 'शंकर' (स्व० पं० नाथूराम 'शंकर' शर्मा) की सुप्रसिद्ध रचना 'वसंत-सेना' में पढ़िए—

"उन्नत उरोज यदि युगल उमेश हैं तो,
काम ने भी देखो दो कमानें ताक तानी हैं।
'शङ्कर' कि भारती के भावने भवन पर,
मोह महाराज की पताका फहरानी है।
किंवा लट नागिनी की साँवली सँपेलियों ने,
आधे विधु-बिम्ब पै विलास विधि ठानी है।
काटती हैं कामियों को काटती रहेंगी कहो,
भृकुटी कटारियों का कैसा कड़ा पानी है।" *

विषयों से नारी का लोप न हो जाने पर भी शृङ्गार के उच्छृङ्खल रूप को आलोच्य काल में प्रोत्साहन नहीं मिला। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' में शृङ्गारी कवियों की प्रवृत्ति पर खिन्न होकर लिखा है—

"उद्देश्य कविता का प्रमुख शृङ्गार-रस ही हो गया,
उन्मत्त हो कर मन हमारा अब उसी में खो गया।"

इसी से इसको "आदर्शवादी युग" (Puritan age) कहा जाता है।

---

* आचार्य द्विवेदी जी द्वारा सम्पादित 'कविता—कलाप' से।

यह इतिवृत्तात्मक काव्य का युग रहा है। इसमें अधिकांश कवियों की दृष्टि 'वस्तु' के बाह्य अङ्ग पर जाकर ही रुक गई। वह उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित न कर सकी।

देश में बंग-भंग के कारण स्वदेशी-आन्दोलन के बवंडर ने 'बंग-भूमि' को ही नहीं समस्त देश को हिला दिया। पूना से लोकमान्य तिलक 'केसरी' द्वारा 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध-अधिकार है' की हुङ्कार मचा रहे थे। जनता की सुप्तप्राय राजनीतिक चेतना जागने के लिए आँखें मलने लगी थी। धार्मिक-क्षेत्र में आर्य-समाज ने हिन्दू-समाज के रूढ़िवाद को ठोकरें मारना प्रारम्भ कर दिया और 'हिन्दू-हिन्दी और हिन्दुस्तान' के प्रति पक्षपात तथा प्रेम भरने का उपक्रम किया। † इसी से द्विवेदी-युग की रचनाओं में, जहाँ राष्ट्रीयता-जातीयता के स्वर निकलने लगे, वहाँ धार्मिक-सामाजिक प्रश्नों को बौद्धिक दृष्टि से देखने का उपदेश भी सुनाई देने लगा। ‡ इसी युग में कृषक और दलित वर्ग के प्रति सहानुभूति व्यक्त करने वाली रचनायें भी दृष्टिगोचर होने लगी थीं। गुप्त बन्धु (मैथिलीशरण गुप्त और सियारामशरण गुप्त) के 'किसान' और 'अनाथ' सर्वहारा जीवन पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

इसी काल के कवियों ने पौराणिक और ऐतिहासिक आख्यानों को भी अपनाने की चेष्टा की, जिससे खंडकाव्य और महाकाव्य भी रचे जाने लगे। पौराणिक आख्यान संस्कृत से अनूदित किये गये और स्वतंत्र भी लिखे गये। रघुवंश (मूल) 'कुमार-संभव' (महावीरप्रसाद द्विवेदी), श्रीमद्-भागवत् के अशोंका 'पंच गीत' तथा 'गोपी गीत' (पोद्दार) के नाम से अनुवाद प्रस्तुत किये गये। प्रिय प्रवास (हरि औध) और रामचरित-चिन्तामणि (रामचरित उपाध्याय) इस युग के 'महाकाव्य' कहे जाते हैं। 'साकेत' की रचना भी इसी युग में प्रारम्भ हो गई थी। खण्ड काव्यों में मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथ वध' 'प्रसाद' का 'महाराणा प्रताप' सियारामशरण गुप्त का "मौर्य-विजय" गोकुलचंद्र शर्मा का 'प्रणवीर प्रताप' आदि उल्लेखनीय हैं।

---

† बाबू मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' में इन्हीं भावनाओं का प्रचार पाया जाता है।

‡ " हिन्दू समाज कुरीतियों का केन्द्र जा सकता कहा।
ध्रुव धर्म-पथ में कु-प्रथा का जाल-सा है बिछ रहा।
सब अंग दूषित हो चुके हैं अब समाज शरीर के।
संसार में कहला रहे हैं हम फकीर लकीर के।"

—मैथिलीशरण गुप्त

पौराणिक और ऐतिहासिक घटनाओं पर रचे गये मुक्तक काव्यों की संख्या बहुत अधिक है। आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' में राजा रवि वर्मा के पौराणिक चित्रों के साथ उन पर आख्यानात्मक कवितायें भी प्रकाशित कीं, जिन्हें पढ़ने के लिये हिन्दी के पाठक सदा उत्सुक रहते थे। 'सरस्वती' के प्रचार में सचित्र काव्य-प्रकाशन-योजना का भी बड़ा योग था।

भाषा के सम्बन्ध में पहिले लिखा ही जा चुका है कि ब्रज-भाषा का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया, पर जैसा कि स्वाभाविक था, खड़ी बोली की रचनाओं में भी इन दोनों भाषाओं का सङ्कर हो जाया करता था। प्रयत्न यही होता था कि भाषा विशुद्ध खड़ी बोली ही रहे। यह वास्तव में भाषा-परिष्कार का ही युग था। 'पाठक', 'हरिऔध' और 'प्रसाद' ('प्रसाद' द्विवेदी-मंडल से पृथक् ही अपनी काव्य-साधना में तत्पर थे) प्रारंभ में ब्रज-भाषा में कविता करते थे, पर समय की लहर ने उन्हें स्पर्श किया और वे खड़ी बोली के साथ बद्धपरिकर हो गए। **"साँकरी गली में माय काँकरी गड़तु है"** की ध्वनि का मोह छोड़ कर 'खड़ी बोली' में वे बोलने लगे।

द्विवेदी-काल ही में खड़ी बोली की रचनाओं में माधुर्य आने लगा था। शब्द-शिल्पी 'पंत' का प्रादुर्भाव इसी युग में हो गया था। बँगला, अँग्रेज़ी और संस्कृत साहित्य के अध्ययन-मनन से काव्य में प्राचीन और अर्वाचीन भावों का समावेश होने लगा था और शब्द-भाण्डार में भी नए-नए शब्द और मुहावरों की वृद्धि होने लगी थी। †

---

† " काला तो यह बादल है, कुमुद-कला है जहाँ किलकती।
वह नभ जैसा निर्मल है, मैं वैसी ही उज्ज्वल हूँ माँ !"
—पंत (१९१८)

" बालक के कंपित अधरों पर, किस अतीत स्मृति का मृदुहास।
जग को इस अविरत निद्रा का, करता नित रह रह उपहास ॥
उन स्वप्नों की स्वर्ण सरित का सजनि ! कहाँ शुचि जन्मस्थान ?
मुसकानों में उछल उछल मृदु, बहती वह किस ओर अजान ?"
—पंत (सन् १९२०-१९२१)

राहुल सांकृत्यायन के कथनानुसार 'पंत' ने सन् १९२१ के पूर्व बंगला की रवि बाबू तथा अंग्रेजी में सरोजिनी की कविताओं को पढ़ लिया था। 'प्रसाद' के 'झरना' को भी वे देख चुके थे। 'प्रिय प्रवास' की करुण पंक्तियां उनकी आँखों को आँसुओं से भर देती थीं। फिर भी उनका मन हिन्दी में नूतन शैली की खोज में था। छायावाद-युग में 'पंत' का पूर्ण निखार दिखाई दिया।

इसी युग में काव्य की अभिव्यक्ति के रूप में भी रूढ़ि के प्रति विद्रोह के चिह्न दिखलाई देने लगे थे। संस्कृत वृत्तों—विशेषकर वर्ण-वृत्तों का प्रयोग होने लगा था। हरिऔधजी की रचनाओं में यह रूप स्पष्ट लक्षित होता था।

पर द्विवेदी-युग का काव्य शुष्क नैतिकता और 'इतिवृत्तात्मकता' के लिए ही प्रसिद्ध है। उसमें रीतिकालीन युग की 'रसिकता' के प्रति 'प्रतिवर्त्तन' स्वभावतः पाया जाता है। युग-धर्म की रक्षा का उसमें आग्रह है।

'प्रसाद' का प्रादुर्भाव

स्व० आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होते ही 'प्रसाद' के कवि का जन्म हो जाता है, पर जिस वात्सल्य-रस की वर्षा आचार्य ने बाबू मैथिलीशरण गुप्त तथा अन्य कवियों पर की, इसकी एक फुहार भी 'प्रसाद' तक न पहुँच सकी। अतः उनका विकास किसी का आश्रय लेकर नहीं हुआ—वे स्वयं ही अङ्कुरित हुए, पल्लवित हुए, फूले और महके।

सन् १९०९–१९१० से उनकी कविता का काल प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ उन्होंने ब्रजभाषा से ही किया, क्योंकि उस समय यद्यपि खड़ी बोली का स्वर सुन पड़ता था, पर वह गद्य के लिए ही अधिक उपयुक्त समझी जाती थी—पद्य में 'ब्रजभाषा' का ही सम्मान जारी था। उनकी प्रथम प्रकाशित कृति 'चित्राधार' में 'ब्रजभाषा' का ही रस लहरा रहा है। पर ब्रजभाषा का मोह 'प्रसाद' को अधिक काल तक आच्छादित न रख सका—एक-दो वर्ष बाद ही खड़ी बोली उनकी कविता में मुखरित हुई—ब्रज की केवल स्मृति–मिठास लेकर। भावनाओं को 'रूप' दे, उन्हें नए-नए 'साँचों' मे ढालने की कला का प्रादुर्भाव 'प्रसाद' से ही होता है। *

'प्रसाद' चूँकि आधुनिक हिन्दी कविता में रहस्यवाद—छायावाद की भावनाओं को प्रतिष्ठित करनेवाले माने जाते हैं, इसलिए हम रहस्यवाद-छायावाद पर प्रथम विवेचन कर 'प्रसाद' के काव्य की परीक्षा करेंगे। 'प्रसाद' से ही आधुनिक हिन्दी काव्य की तीसरी 'मोड़' खिंच जाती है।

---

* "प्रसादजी हिन्दी में अतुकान्त कविता के प्रारम्भकर्ता हैं। निस्सन्देह हिन्दी में गणवृत्तों में उनके लिखने के बहुत पहिले भी अमित्राक्षर कविता लिखी गई है, किन्तु मात्रिक वृत्तों में उसका प्रयोग तथा भावों और वाक्यों की—चरणों के बन्धन में न पड़ कर—स्वतंत्र गति, प्रारम्भ और अवसान,—प्रसादजी की ही सृष्टि है।"

(करुणालय का वक्तव्य)

रहस्यवाद-छायावाद और 'प्रसाद'—

'रहस्य' क ाअर्थ है गुप्त–प्रच्छन्न,–अव्यक्त। और जिसमें गुप्त, प्रच्छन्न और अव्यक्त का उल्लेख है,–इङ्गित है–वही' रहस्यवाद' है। सावरण को निरावरण करनें की प्रवृत्ति मनुष्य-मात्र में प्रारम्भिक काल से रही है। 'दर्शन' की उत्पत्ति इसी जिज्ञासाका परिणाम है। उपनिषदों में उसी 'प्रच्छन्न' को देखने का कुतूहल है। रूप जगत् क्या है?— मैं (आत्मा) क्या हूँ? 'आत्मा' और 'जगत्' का सम्बन्ध क्या है? 'जगत्' किसकी सृष्टि है? वह (सः) कौन है? 'सः', 'जगत्' और 'आत्मा' के बीच क्या कोई शृङ्खला है? ये प्रश्न हैं, जो 'दर्शनों' में अनेक तर्क वितर्कमय उत्तरों के पश्चात् भी प्रश्न ही बने हुए हैं। उनका निष्कर्ष है; वह, (सः) अनुभव किया जा सकता है—उसका वर्णन नहीं हो सकता। ईसाई दार्शनिक कहते हैं, "प्रेमिका के उसास भरे वक्षस्थल का जैसे कोई उन्मत्त प्रेमी आलिङ्गन करता है और उससे जो मीठा-मीठा कुछ भीतर ही भीतर घुलने लगता है—कुछ ऐसा ही 'उसके' सान्निध्य का अनुभव होता है"। बौद्ध इस प्रश्न पर मौन धारण कर लेता है; वेदान्ती 'नेति-नेति' (यह नहीं, यह नहीं) कह करे रुक जाता है; सूफ़ी एक उर्दू कवि के शब्दों में उसको प्रत्येक स्थल पर अनुभव करता है:—

" ज़ाहिद ! शराब पीने दे मसजिद में बैठ कर।
या वह जगह बता कि जहाँ पर खुदा न हो। "

वह अपनी सत्ता को उसी (सौन्दर्य) में खो देता है। *

सूफी कवि रूमी ने सूफी ध्येय को एक उदाहरण द्वारा बड़ी सुन्दरता से समझाया है—

"किसी ने प्रियतम के द्वार को खटखटाया। भीतर से एक आवाज़ ने पूछा—"तू कौन है।" उसने कहा—"मै।" आवाज़ ने कहा—"इस घर में··'मै और तू' दो नही समा सकते।" दरवाज़ा नहीं खुला। व्यथित प्रेमी वन में तप करने चला गया। साल भर कठिनाइयाँ सह कर वह लौटा और उसने फिर दरवाजा खटखटाया। उससे फिर प्रश्न हुआ—"तू कौन है?" प्रेमी ने उत्तर दिया—"तू"। दरवाज़ा खुल गया। ×

"अद्वैतवादी" भी उसको अपने ही में देखता है। इसी से वह कहता है—"सोऽहम्"—'मै ही वह हूँ।' वह आत्मा में ही परमात्मा को अधिष्ठित देखता है और जगत् को 'मिथ्या' समझता है। उसका विश्वास है कि आत्मा पर माया का आवरण पड़ा ‡ रहने से हम 'उसके' दर्शन नहीं कर पाते। आवरण को विदीर्ण कर ही हम

---

* "Sufi strives to lose humanity in beauty. Self-annihilation is his watch word."

× सूफी कवि मलिक मुहम्मद ज़ायसी ने भी कहा है—

" हौं हौं कहत सबै मत खोई।
जो तू नाहिं आहि सब कोई। "

—पद्मावत

‡ 'संसार अपनी ही कल्पना है, जैसी कल्पना होगी वैसा ही वह बनेगा। यही चिरन्तन रहस्य है।'—

—मैत्रेयी उपनिषद्

"यह संसार जिस वस्तु का बना हुआ है वह मानसिक वस्तु ही है। हमारा परिचित संसार मन की सृष्टि है। बाह्य, भौतिक संसार सब छाया मात्र रह गया है। संसार सम्बन्धी भ्रम के निवारण के लिये हमने जो प्रयास किए उनके परिणामस्वरूप संसार का ही निवारण हो गया, क्योंकि हमने देख लिया कि सबसे बड़ी भ्रम की वस्तु स्वयं संसार ही है।"

—एडिंग्टन और जीन्स।

पर उसकी आभा का प्रकाश पड़ता है और हम उसे अपने में अनुभव करने लगते हैं।

सूफी और अद्वैतवादी (निर्गुणवादी) दोनों ही जगत को मिथ्या मानते हैं, परन्तु सूफी जगत के 'रूप' में परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करता है। उसे वह परमात्मा के विरह में व्याकुल देखता है इसी से परमात्मा तक पहुँचने के लिए वह भौतिक वस्तु के प्रति आसक्ति धारण कर प्रेम-विभोर हो जाता है। उसका साधन प्रेम है और साध्य भी प्रेम।

द्वैतवादी (सगुणोपासक) आत्मा (जीव) को ब्रह्म से पृथक् मानता है। वह अद्वैतवादी की तरह दोनों को एक नहीं मानता। वह सायुज्य मुक्ति की कामना भी नहीं करता। अपने आराध्य को अपलक आँखों से देखते रहने और उसका सान्निध्य शाश्वत बनाये रखने में ही अपने को कृतकृत्य मानता है।* उसे अपना 'आराध्य' ही सब कुछ है और उसके बिना 'सब'-कुछ नहीं। वह धार्मिक ग्रन्थों में रंजित स्वर्ग की कामना भी नहीं करता।

कुमारी अंडरहिल अपनी Essentials of Mysticism में लिखती हैं—We cannot honestly say that there is any wide difference between Brahmin, Sufi and Christian.

अब प्रश्न यह उठता है कि विभिन्न 'दर्शनों' के इस रहस्य को खोजने का उद्देश्य क्या है? उसे जान कर उन्हें क्या प्राप्त होता है? इसका उत्तर केवल एक शब्द में दिया जा सकता है। और वह है—आनन्द।‡

सांसारिक संघर्षों से हट कर मनुष्य ऐसी स्थिति × में पहुँचना चाहता है, जहाँ केवल आनन्द की ही वर्षा होती है। जीवन के विविध ताप (दुःख) पिघल कर बह जाते हैं। उपनिषद्कार कहते हैं—

---

* "कहा करौं बैकुंठ लैं, कलप वृच्छ की छाँह।
'अहमद' ढाँक सराहिये, जो प्रीतम गल बाँह॥"

—अहमद

‡ "को जानै को जैहे जमपुर को, सुर पुर पर धाम को।
तुलसिहिं बहुत भलो लागत जगजीवन रामगुलाम को।"

—तुलसी (विनय पत्रिका)

× रहस्यवाद भी एक मानसिक स्थिति ही है। स्पर्जियन ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है—"Mysticism is in truth a temper, rather than a doctrine, an atmosphere, rather than a system of philosophy."

"आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दम्प्रयान्त्यभिसंविशन्ति ।"

"यह सृष्टि आनन्द से ही उत्पन्न हुई है, आनन्द की ओर ही इसकी गति है और आनन्द में ही स्थिति ।"

'दर्शन' की 'रहस्य'-भावना को 'काव्य' में किस रूप में अपनाया गया है; इसे हमें समझ लेना चाहिए और यही समझ कर हमें चलना चाहिए कि दर्शन (Philosophy) काव्य नहीं है और यह भी कि काव्य में दार्शनिक भाव-व्यञ्जना होने पर भी वह (काव्य) 'दर्शन' नहीं बन जाता ।

'दर्शन', तर्क और ज्ञान से 'रहस्य' को समझने का आग्रह करता है, काव्य 'उसे' अपने में आच्छादित कर लेने की व्याकुलता प्रकट करता है । दर्शन चिन्तन है—विचार है; कविता अनुभूति है, भाव है । 'दर्शन' 'उसे' दूर रख कर खुली आँखों से देखने की चेष्टा करता है; काव्य 'उसे' अपने ही में उतार कर निमीलित नेत्रों से उसका दर्शन करता है । जहाँ 'रहस्य' के प्रति हमारा राग जाग उठता है, हम 'उसकी' ओर अपने को भूल कर खिचने लगते है; वही काव्य की भूमिका प्रस्तुत हो जाती है । 'रहस्य' की ओर खिचाव-आकर्षण-ही रहस्यवादी काव्य को जन्म देता है । 'रहस्य' जैसा कि अभी तक के विवेचन से स्पष्ट है, उस परोक्ष सत्ता को कहते हैं, जो हमारी पार्थिव आँखों के ओझल है, परे है ! उसी को अनुभव करने, पहचानने की ललक–चाह–रहस्यवादी काव्य में दीख पड़ती है । अपनी प्रवृत्ति और विश्वास-भावना के अनुसार एक रहस्यवादी जगत् में परोक्ष सत्ता का आभास पाकर उसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ कर हर्ष-पुलक से भर जाता है, दूसरा जगत् को असत्य मान उससे विरक्त हो अपने भीतर ही उस सत्य के दर्शन कर आत्म-विभोर हो जाता है । * इस प्रकार के द्रष्टा को आत्म-वादी या व्यक्तिवादी भी कह सकते हैं, तीसरा किसी व्यक्ति ही को 'उसका' प्रतीक मान उसमें अपनी भावनाओं को केन्द्रित कर उसी का सान्निध्य चाहता है ।

इस प्रकार रहस्यवादी अपनी आत्मा के चेतन को झाँकने के लिए उन्मुख होता है, स्थूल प्रकृति में समष्टि रूप से चेतनता का आरोप कर उससे अपना

---

* गगन मँडल के बीच में, जहाँ सोहंगम डोरि ।
सबद अनाहद होत है, सुरत लगी तहँ मोरि ॥"

—कबीर

रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है और उसे अपना ही अंश अनुभव करने लगता है। और वह व्यष्टि ही मे परोक्ष चेतन का आरोप कर भी आत्म-विस्मृत हो जाता है। प्रत्येक रहस्यवादी के लिए आकर्षण के आधार (आलम्बन) का एक होना आवश्यक नही, पर उस आधार में उस रहस्यमयी परोक्ष सत्ता की अनुभूति में सबका एक होना निश्चय ही आवश्यक है।

जो प्रकृति के किसी सीमित स्थूल सौन्दर्य पर ही अपनी राग-रंजित आँखें बिछा देते है, वे मधुरतम श्रेष्ठ कवि हो सकते हैं पर 'रहस्यवादी' कवि नहीं।

'वर्तमान हिन्दी कविता' में रहस्यवाद की संज्ञा 'प्रसाद' जी के शब्दों में है—"अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा अहं (आत्मा) का इदम् (जगत्) से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बन कर इसमें सम्मिलित है।"

इस तरह के रहस्यवाद को सूफी भावना के अन्तर्गत ले सकते हैं, जिसमें 'ससीम' में 'असीम' का आरोप किया जाता है। विरह-वेदना सूफी-काव्य की आत्मा है।

अपनी भावनाओं को स्थूल (सीमा) पर आधारित कर भी यदि किसी रचना में कवि का लक्ष्य 'परोक्ष' के प्रति नहीं है, तो हम उसे रहस्यवादी काव्य नहीं कहेंगे। अब प्रश्न उठता है—क्या रहस्यवादी काव्य का आलम्बन सीधा 'परोक्ष सत्ता' हो सकता है? इस सम्बन्ध मे स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल का मन्तव्य विचारणीय है—"हृदय का अव्यक्त और अगोचर से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। प्रेम, अभिलाषा, जो कुछ प्रकट किया जायगा वह व्यक्त और गोचर ही के प्रति होगा। प्रतिबिंबवाद, कल्पनावाद आदि वादों का सहारा लेकर इन भावों को अव्यक्त और अगोचर के प्रति कहना और अपने काल्पनिक रूप-विधान को ब्रह्म या पारमार्थिक सत्ता की अनुभूति बताना, काव्य-क्षेत्र में एक अनावश्यक आडम्बर खड़ा करना है।" आचार्य, हृदय के राग का 'अव्यक्त' आलम्बन स्वीकार नही करते। वे कहते हैं—"उपासना जब होगी तब 'व्यक्त' और 'सगुण' की ही होगी; 'अव्यक्त' और 'निर्गुण' की नहीं। 'ईश्वर' शब्द ही सगुण और विशेष का द्योतक है, निर्गुण और निर्विशेष का नहीं।"

ऊपर हमने निर्गुण, सूफी और सगुण रहस्यवादियों की चर्चा की है। इन तीन वादियों में व्यावहारिक दृष्टि से सूफी और सगुणवादियों में अन्तर नहीं है। दोनों अपने हृदय के राग को 'व्यक्त' पर ही आधारित करते हैं।

अब रह गए निर्गुणवादी-अद्वैतवादी । वे भी अपनी हृदय-भावना को एकदम अव्यक्त पर नहीं जमाते । उन्हें लौकिक प्रतीक ढूंढने ही पड़ते हैं। कबीर कहते है—

"हरि मेरो पिउ हम हरि की बहुरिया।"

अनुभूति को व्यक्त करने के लिए आत्मवादी को भी अपने से बाहर देखना पडता है । अत: यह सिद्ध हुआ कि काव्य में रहस्य-भावना सर्वथा अदृष्टावलम्बित नही रहती। अभिव्यक्ति के लिये उसे व्यक्त' का आधार ग्रहण करना पड़ता है, जो प्रतीकात्मक हो सकता है। रहस्यवादी रचना को पहचानने के लिये हमें कवि की मूल भावना की तह में जाना आवश्यक होता है। केवल अनन्त, अन्तरिक्ष, क्षितिज, असीम आदि शब्दों को देख कर ही उसे रहस्यावलम्बी नहीं मान लेना चाहिये । कभी-कभी मनुष्य 'इस अवनी' के 'कोलाहल' से ऊब कर भी मन की ऐसी अवस्था चाहता है, जो सासारिक सुख-दु:खों से परे हो जाय । 'प्रसाद' ने **"ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक ! धीरे धीरे।"** (लहर) में ऐसी ही कामना की है। उन्होंने ऐसे लोक में जाना चाहा है, जहाँ एकान्त हो और कानों में निश्छल प्रेम का संगीत झरता हो, जिसमें विभोर हो, जीवन अपनी सासारिक क्लाति को खो सके। इस मायामय चचल विश्व में 'उसी' का ऐश्वर्य व्यापक रूप से छाया हुआ दीख पड़े जिससे सुख-दु:ख दोनों समान समझ पड़े—दोनों ही सत्य जान पड़ें, हम दोनों से समान सुख अनुभव कर सकें। ऐसे लोक में श्रम और विश्राम में विरोध न हो, वहाँ किसी का जीवन केवल 'श्रम ही-श्रम' न हो और न कोई केवल 'विश्राम' ही का सुख लूटता हो और वह लोक ऐसा हो, जहाँ जागृति ही का सतत प्रकाश फैलता रहता हो।

इस रचना में हमें कवि की अदृष्ट लोक की (चाहे वह मानसिक ही हो) कल्पना मिलती है। हम ऐसा कहीं संकेत नहीं पाते कि कवि को वह 'लोक' मिल गया है—वह अपनी 'साधना' से वहाँ पहुँच गया है। परन्तु 'लहर' में प्रकाशित **'उस दिन जब जीवन के पथ में'** शीर्षक रचना से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने अन्तर्मुख होकर वह रहस्य जान लिया है। जब साधक अपने ही में अनन्त रस का सागर लहराता हुआ अनुभव करता है तब वह मधु-भिक्षा की रटन अधर में लेकर घर-घर भटकने की आवश्यकता नहीं समझता। पर कवि की यह भावना—अपने ही अन्तर के रस में भीगे रहने की प्रवृत्ति—क्या स्थायित्व लाभ कर सकी है ? यदि कोई 'सत्य' किसी को मिल जाता है और उस पर उसकी आस्था जम जाती है तो वह फिर

उसी में अपने को केन्द्रित कर उसी की तान भरता है—उसी को प्रतिध्वनित करता है। परन्तु हम देखते हैं, 'प्रसाद' के मन में आत्म-सत्य की एक क्षणिक लहर ही उठी थी, वह फैल कर 'सागर' नहीं बन सकी। अन्यथा चारों ओर 'मधु-मंगल की वर्षा' की अनुभूति ही उन्हें विकम्पित करती रहती। 'विषाद' उनके जीवन को आच्छादित न कर सकता।

अतएव रचना की केवल आकृति (Form) को देख कर ही उसकी 'वस्तु' की आध्यात्मिक प्रेरणा की कल्पना न कर लेनी चाहिए। हमें देखना चाहिए कि काव्य का रूप (आकृति) कवि के आन्तरिक जीवन से स्पन्दन ग्रहण कर रहा है या केवल बुद्धि का विलास है ? आधुनिक रहस्यवादी रचनाओं में 'बुद्धि का विलास' (Intellectual exercise) ही अधिक पाया जाता है। उनमें 'क्रोसे' के मतानुसार 'आकृति' (Form) को ही अधिक महत्व दिया जाता है, क्योंकि उससे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है और यह निश्चय ही बाह्य-सौन्दर्य है। प्राचीन रहस्यवादियों ने आकृति पर ध्यान नहीं दिया, उन्होंने 'वस्तु' को—'तथ्य' को—'भावसत्य' को—ही प्रधानता दी, क्योंकि वे तो उस 'सत्य' को अपनी 'वाणी' से नीचे 'प्राणों' में उतार चुके थे। अत: 'अटपटे शब्दों में' भी उनकी अनुभूति की अभिव्यक्ति सहज मधुर हो सकी और हमें हिला सकी।

यहाँ यह आग्रह नहीं है कि रहस्यभावना सच्चे साधु-सतों के हृदय में ही तरंगित हो सकती है, पर यह ठीक है कि उसका स्थायित्व उन्ही में रह सकता है, जिनकी वृत्तियाँ सचमुच उसी भावना में रँग चुकी हैं। यों, प्राय: मनुष्य के हृदय में—चाहे उसका जीवन किसी भी नैतिक धरातल पर स्थित हो—ऐसे क्षण कभी कभी अवश्य आते है, जब वह अन्तर्मुख हो किसी अदृष्ट सत्ता के प्रति आसक्ति सी अनुभव करता है। ऐसे व्यक्ति यदि कलाकार या कवि होते हैं, तो अपनी इस अनुभूति को व्यक्त कर देते है, पर चूँकि उनकी अनुभूति क्षणिक होती है इसलिए उनकी अभिव्यक्ति भी अधूरी और धुँधली होती है। 'प्रसाद' में ऐसी अनुभूति की कभी-कभ लहर सी उठती दीख पड़ती है—पर जब उस अनुभूति की केवल कामना भर उनके मन में होती है, तब हमें उस कामना को ही रहस्य-भावना नहीं समझ लेनी चाहिए।

रहस्यवाद की चर्चा के साथ छायावाद का भी प्राय: उल्लेख किया जाता है। परन्तु यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो छायावाद कोई 'वाद' नही बन सका। उसके पीछे कोई दार्शनिक या परम्पराजन्य भूमि नहीं दिखाई देती। उसे हम काव्य की एक शैली कह सकते हैं।

छायावाद को हम काव्य की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति कह सकते हैं। उसमें 'जीवात्मा की दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपने शांत और निश्चल सम्बन्ध की चेष्टा' मात्र ही नहीं पाई जाती; स्थूल सौन्दर्य के प्रति मानसिक आकर्षण के उच्छ्वास भी अङ्कित देखे जा सकते हैं। इस तरह छायावाद के लिए अलौकिक सत्ता के प्रकाशन की आवश्यकता नहीं है। उसमें व्यष्टि की किसी अभावजनित अन्तर्व्यथा भी झलक सकती है और बाह्य प्रकृति के प्रति आसक्ति भी।

द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) रचनाओं की रुक्षता की प्रतिक्रिया के रूप में जब आभ्यन्तर भावों का विशेष ढँग से प्रकटीकरण होने लगा, तब उसमें नवीनता देख उसे 'छायावाद' की संज्ञा दी गई। × उसमें शब्द-योजना और छन्द-विन्यास मे रीतिकाल के काव्य की अपेक्षा निश्चय ही वैचित्र्य पाया जाने लगा। 'छायावाद' की रचनाओं में 'भावों की नवीनता' की अपेक्षा, भावों को व्यक्त करने की कला में नवीनता अवश्य थी। और कवि की दृष्टि भी 'बाह्य जगत्' से हट कर अपने 'भीतर' ही रमने लगी—और जब वह अन्तर्मुखी हुई, तो उसने बाह्य जगत् को भी अपने ही मे प्रतिबिम्बित कर लिया। यदि एक वाक्य में कहें तो कह सकते है कि वे सब रचनाएँ जो अन्तर्वृत्ति निरूपक हैं, 'छायावाद' के अन्तर्गत आ जाती है। * अतः रहस्यवादी रचनाएँ भी, जो अन्तर्वृत्ति निरूपक होती हैं, 'छायावाद' शैली की कृतियाँ कहला सकती हैं। उसमें निराली अभिव्यक्ति का लावण्य दिखाई देता है, परन्तु इसका यह अर्थ नही कि मानव अनुभूति को 'छायावाद' कहलाने के लिए 'स्वच्छन्द छन्द' में ही चित्रित होना चाहिए! हाँ, निरालापन लाने के लिए शब्द और अर्थ की स्वाभाविक वक्रता छायावाद का विशिष्ट गुण अवश्य है। इसलिए 'छायावाद' की रचना में शब्दों की अभिधा की अपेक्षा लक्षणा और व्यञ्जना शक्ति से अधिक काम लिया जाता है। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में 'छायावाद' का सामान्यतः अर्थ

× छायावाद को आचार्य शुक्ल बंगाली और अंग्रेजी प्रभाव-प्रसूत मानते हैं, जो पूर्ण नहीं, अर्ध-सत्य कहा जा सकता है। यह 'वाद' अपने युग-परिस्थितियों का परिणाम कहा जा सकता है। 'प्रसाद' पर अंग्रेजी प्रभाव की कल्पना भी नहीं होनी चाहिये।

* 'छायावाद' शब्द को अर्थ शून्य समझ कर इन पंक्तियों के लेखक ने अन्तर्वृत्ति निरूपक रचनाओं को सन् १९२८ से हृदयवाद के नाम से पुकारना आरम्भ कर दिया था।

हुआ 'प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यञ्जना करनेवाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन।' 'छायावाद' ही प्रतीक-पद्धति या चित्र-भाषा शैली भी कहलाती है।

'प्रसाद' भी छायावाद' को काव्य की एक अभिव्यक्ति विशेष ही मानते हैं। वे लिखते हैं—"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषतायें हैं। अपने भीतर से मोती की तरह अन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमय होती है।"

'प्रसाद' तथा कतिपय अन्य समीक्षक 'छायावाद' को काव्य की एक शैली मानते हैं, और उस शैली के निश्चित तत्व भी निर्धारित करते हैं। वे हृदय से स्वभावतः झरनेवाले भावों की अभिव्यक्ति मात्र को ही 'छायावाद' के अन्तर्गत नही मानते। प्रत्युत अभिव्यक्ति में, वक्तृता, प्रतीकात्मकता भी आवश्यक समझते हैं; पर स्व० केशवप्रसाद मिश्र की राय है कि 'छायावाद' की रचना के लिए "हृदय में केवल वेदना ही चाहिए, वह स्वयं अभिव्यक्ति का मार्ग ढूंढ़ लेती है।" मिश्रजी की यह व्याख्या उस समय प्रकाशित हुई थी, जब हिन्दी में द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक कविता की प्रतिक्रिया स्वरूप कवि अन्तर्मुख हो रहे थे। उस समय अन्तर्मुखी रचना को ही "छायावाद" कहा जाता था। उसके 'आलम्बन' की ओर ध्यान नही जाता था। वक्रतामयी अभिव्यक्ति भी आवश्यक गुण नही मानी जाती थी।

तभी एक ओर जहाँ—

" हे मेरे प्रभु व्याप्त हो रही, है तेरी छवि त्रिभुवन में।
तेरी ही छवि का विकास है, कवि की बानी में, मन में। "

—रामनरेश त्रिपाठी

जैसी पंक्तियाँ (जिनमें परमात्मा को लक्ष्य कर 'कुछ' लिखा गया है) छायावाद की रचनाओं के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जाती थी, वहाँ स्व० सुभद्रा-कुमारी की यह अभिधामूलक रचना भी, जिसमें लौकिक प्रेम-रस छलछला रहा है, 'छायावाद' की रचना समझी जाती रही है—

" तुम मुझे पूछते हो, जाऊँ? क्या जवाब दूँ तुम्हीं कहो!
'जा...' कहते रुकती है ज़बान किस मुँह से तुमसे कहूँ रहो?

सेवा करना था जहाँ मुझे कुछ भक्ति-भाव दरसाना था।
उन कृपा-कटाक्षों का बदला, बलि होकर जहाँ चुकाना था।
मैं सदा रूठती ही आई, प्रिय ! तुम्हें न मैने पहचाना।
वह मान बाण सा चुभता है, अब देख तुम्हारा यह जाना।"

'छायावाद' की रचना के लिए न तो 'आलम्बन' विशेष का बन्धन था और न अभिव्यक्ति की प्रणाली ही आवश्यक थी। जिसमे 'हृदय' के राग की छाया दीख पड़ती, वही 'छायावाद' की रचना समझी जाती थी। हम 'छायावाद' को 'हृदयवाद' का पर्याय मानते है। अतएव उसकी व्यापकता को स्वीकार कर उन सभी रचनाओं को छायावाद के अन्तर्गत लेते है, जिनमें आन्तरिक अनुभूति प्रतिध्वनित होती है। साथ ही जब हम 'छायावाद' को एक काव्य की शैली-विशेष भी कहते है, तब हमें अनुभूति की अभिव्यक्ति में निरालापन भी दिखाई देना चाहिए। यह 'निरालापन' कई रूप धारण कर सकता है। † सरल भाषा मे अर्थ-गाम्भीर्य भर और प्रतीकात्मक भाषा में भाव सूक्ष्मता का आभास प्रस्तुत कर हमें कला-सौन्दर्य से विमुग्ध बना सकता है। अतः 'छायावाद' की रचना के लिए निम्न दो बाते आवश्यक है :—

१—रचना को आन्तरिक अनुभूतिमय होना चाहिये और २—रचना की अभिव्यक्ति में 'निरालापन' होना चाहिए। यह निरालापन शब्दों की किसी भी 'शक्ति' से प्राप्त किया जा सकता है।

'प्रसाद' की अधिकाश रचनाएँ 'छायावाद' की उक्त व्याख्या के अन्तर्गत आती है। उनकी रहस्य-संकेतात्मक रचनाओं की 'छायावाद'-शैली ही है। प्रायः 'प्रतीकों' और लक्षणा के सहारे ही उन्होने अपनी अन्तर्भावनाओं को प्रकाशित किया है। इसकी चर्चा आगे विस्तार के साथ की जायगी।

---

† संस्कृत में कुंतल 'वक्रोक्तिजीवितम्' में अभिव्यक्ति के बाँकेपन—निरालेपन—में काव्य की आत्मा को प्रतिपादित करते है। छायावाद-युग में अभिव्यंजना पर कवियों का अधिक आग्रह रहा। इस युग के कवि चाहे कुंतल से प्रभावित न हुए हों, पर क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' ने उन्हें अवश्य प्रभावित किया। क्रोचे के अभिव्यजनावाद की चर्चा लेखक ने अपने 'दृष्टिकोण' में की है।

प्रगतिवाद और 'प्रसाद'

आधुनिक हिन्दी काव्य-सरिता की चौथी मोड़ भी 'प्रसाद' के जीवन-काल में स्पष्ट दिखाई देने लगी थी। जिस प्रकार द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया स्वरूप रहस्यवाद और छायावाद का प्राबल्य हुआ उसी प्रकार रहस्यवाद और छायावाद की स्वर्गिक कल्पनाओं और मधु संकेतों के अतिरेक ने दृश्य जगत की ओर कलाकार की दृष्टि केंद्रित की। सन् १९३५-३६ से यह प्रवृत्ति व्यापक रूप धारण करने लगी। व्यक्ति के रुदन, अभिसार से वह आंख मीचने लगा। आसमान से ओस पत्तों पर बिखर कर अब मोती नहीं बनतीं; 'मोती' बनते है खेतों-खलिहानों में कृषक-किशोरी के कपोलों पर झलकने वाले स्वेद-कण। कल साहित्यकार में समाज समाया हुआ था, आज समाज में साहित्यकार समा गया है। कल का वह दृश्य जब 'खय्याम' का कवि किसी तरु-तले लेटा शीतल समीरण के हलके-हलके झोंके खा 'साक़ी' की अधखुली आंखों से 'आसव' के प्याले की प्रतीक्षा में रह-रह सिहर उठता था, आज उसे नहीं भाता। वह अपने चारों ओर की वस्तु-स्थिति को खुली आंखों से देखना चाहता है, बुद्धि से समझना चाहता है और उसे आज के अनुकूल बनाने का हल खोजना चाहता है। उसकी 'भीतर' से 'बाहर' झांकने की इस चेष्टा को ही 'प्रगतिवाद' कहा जाता है—जो परिचित शब्द यथार्थवाद के अधिक निकट है। 'प्रसाद' ने इस प्रकार के साहित्य की चर्चा

निम्न शब्दों में की है—"वेदना से प्रेरित होकर" जन-साधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है। इस दशा में प्रायः सिद्धान्त बन जाता है कि हमारे दुःख और कष्टों के कारण प्रचलित नियम और सामाजिक रूढ़ियां है। फिर तो अपराधों के मनोवैज्ञानिक विवेचन के द्वारा यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न होता है कि वे सब समाज के कृत्रिम पाप हैं। अपराधियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर सामाजिक परिवर्तन के सुधार का आरम्भ साहित्य में होने लगता है। इस प्रेरणा में आत्म-निरीक्षण और शुद्धि का प्रयत्न होने पर भी व्यक्ति के पीड़न, कष्ट और अपराधों से समाज को परिचित कराने का प्रयत्न भी होता है और यह सब व्यक्ति वैचित्र्य से प्रभावित होकर पल्लवित होता है। स्त्रियों के सम्बन्ध में नारीत्व की दृष्टि ही प्रमुख होकर मातृत्व से उत्पन्न हुए सब सम्बन्धों को तुच्छ कर देती है। वर्तमान युग की ऐसी प्रवृत्ति है। जब मानसिक विश्लेषण के इस नग्न रूप में मनुष्यता पहुँच जाती है, तब उन्हीं सामाजिक बन्धनों की बाधा घातक समझ पड़ती है और इन बन्धनों को कृत्रिम और अवास्तविक माना जाने लगा है।"

एक प्रसिद्ध तरुण प्रगतिशील कवि (अंचल) ने अपने निजी पत्र में मुझे लिखा था—"प्रगतिशीलता में यथार्थवाद वहीं तक है कि उसमें लेखक या कवि का Treatment यथार्थवादी होता है। यथार्थवाद for the sake of यथार्थवाद नहीं...प्रगतिशीलता में साहित्य की निश्चित आदर्शवादिता रहती है। प्रगतिशील लेखक वास्तव में यथार्थवादी कम होता है, आदर्शवादी अधिक। उन आदर्शों का स्रोत "greatest good of the greatest number" में निहित रहता है।" इनके मत से प्रगतिवादी 'स्वान्त सुखाय' नहीं, 'बहुजन हिताय' साहित्य-सृजन करता है और यही उसका 'आदर्श' है। पर साहित्य-सृजन में स्व-पर-सुख की विभाजक रेखा खींचना कठिन है। पर-सुख में यदि स्व-सुख निहित नहीं है तो भाव-संक्रमण कैसे संभव होगा? बहुधा प्रगतिवादी कहते हैं—'प्रगतिवाद के पीछे मार्क्सवाद की फिलासफी है, जो जीवन को एक भौतिक द्वन्द्व के रूप में आगे बढ़ता देखती है, आज के पूँजीवाद का मरणोन्मुख रूप, समाज का ह्रास और आगे बढ़ने का एक ही मार्ग—श्रमजीवी वर्ग का क्रान्तिकारी बल...। ये दो दार्शनिक सिद्धान्त आपस में टक्कर लेते हैं—हीगल का आदर्शवाद और मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical materialism)." (प्रकाशचन्द्र गुप्त)

एक मराठी आलोचक का मत है—"वाङ्मय में समाजवाद, साम्यवाद, राजनीति आदि विषयों को देख कर लोग चौंकते हैं, परन्तु इसमें चौंकने की

बात ही क्या है? हमारा जीवन और हमारी सामाजिक परिस्थितियाँ राजनीतिक गुत्थियों से इतनी सम्बद्ध है कि हमारे साहित्य में राजनीतिक समस्याएँ आयेंगी ही, समाजवाद आयेगा ही। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जिस रचना में लाल झण्डा, 'कुदाली-फावड़ा है, वही प्रगतिशील साहित्य है। प्रगतिशील साहित्य में वास्तववाद का चित्र खिंच आना चाहिये। परिस्थिति को चित्रित करनेवाला साहित्य ही जीवित रहेगा।"

प्रगतिवादी साहित्यकारों के विभिन्न दृष्टिकोणों को पढ़ने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अभी वे अपने 'वाद' की स्पष्ट रूप-रेखा नहीं खींच सके; वे यथार्थवाद और आदर्शवाद में से किसी एक को ही अपनाने में झिझकते हैं। अतएव अपने विचारों को इस तरह उलझी हुई भाषा में रखते हैं कि जिससे वे अपने को यथार्थवादी और आदर्शवादी दोनों कह सकें। वे अपना दार्शनिक आधार 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' मानते हैं। अतएव हमें सबसे पहिले 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' को ही समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

यह 'वाद' (Dialectical materialism) मार्क्स ने अपने गुरु हीगल के दर्शन-तत्वों के विरोध से निर्मित किया है। मार्क्स अपनी आयु के पच्चीस वर्ष तक हीगल को देवता के समान पूजता था। वह उसकी आकर्षण-शक्ति पर बेहद मुग्ध था, उसमें दैवी आभा देख कर आत्मविभोर हो उठता था, पर धीरे-धीरे उसे हीगल की सम्मोहनशक्ति से विरक्ति हो गई; उसके 'दर्शन' को 'शराबी की कल्पना-तरंग' कह कर उसने अपने गुरु से लोहा लिया। हीगल जहाँ त्रिगुणातीत ब्रह्म को ही अन्तिम सत्य मानता था, वहाँ मार्क्स 'जड़वाद' ही को सब कुछ समझता था। हीगल के विरुद्ध फॉदरबक ने प्रथम बग़ावत का झण्डा फहराया। मार्क्स ने हीगल के 'चैतन्य' को ठुकरा दिया, पर उसे देखने की जो हीगल की द्वन्द्वात्मक भूमिका थी, उसको उसने ग्रहण कर लिया; साथ ही फॉदरबक के जड़वाद को अपना कर उसने अपना नया गत्यात्मक या विरोध-विकास-जन्य जड़वाद निर्माण किया।

जहाँ हीगल कहता है कि द्वन्द्व प्रक्रिया से— संघर्ष से—'चैतन्यमय' विश्व का प्रकटीकरण होता है वहाँ मार्क्स संघर्ष को—द्वन्द्व को किसी परिणाम का कारण तो मानता है—वह मानता है कि द्वन्द्व से विश्व या सृष्टि का प्रकटीकरण होता है, पर वह उसमें 'चैतन्य' को सम्मिलित नहीं करता। 'जड़-सृष्टि' के विकास का आशय क्रांति है—वह क्रांति जो मज़दूरशाही को जन्म देती है, मज़दूरों का राज्य स्थापित करती है। मज़दूरशाही तभी कायम हो सकती है, जब 'बुर्जुआ वर्ग' से संघर्ष लिया जाय और यह संघर्ष 'क्रांति' खड़ी कर देने से ही फलदायी हो सकता है।

'क्रांति'—संघर्ष—का रूप भीतर और बाहरी दोनों हो सकता है। वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक स्थिति में क्राति करने के लिए व्यक्तियों के हृदयों में परिवर्तन पैदा किया जा सकता है और उन्हें बलप्रयोग से ध्वंस भी किया जा सकता है। आभ्यन्तर परिवर्तन के उद्देश्य से जो क्रान्ति खड़ी की जाती है, उसमें समय लगता है। मार्क्सवाद गाधीवाद की तरह हृदय-परिवर्तन में आस्था नही रखता। कल्पना, भावना जैसी कोमल मनोवृत्तियों का उसमें स्थान नहीं है। इसीलिए वह 'बल-प्रयोग' में विश्वास रखता है। मार्क्सवाद 'वस्तु' को उसके बाहरी रूप में ही देखता है।

उसका दृष्टिकोण ही (objective) बाह्यात्मक है, क्योंकि उसका विश्वास है कि 'वस्तु' के ऊहापोह से वस्तु का असली रूप प्रकट नहीं होता, वरन् हमारी ही कल्पना हमारे सामने खड़ी हो जाती है—हम 'वस्तु' में अपना ही रंग भर कर उसे विकृत बना देते है, तभी मार्क्सवादी 'यथार्थवादी' होता है। जो 'मार्क्सवाद' में 'आदर्शवाद' की चर्चा करते है, वे उसकी 'दर्शन' नींव को अपने से ओझल रखते है। मार्क्स-दर्शन जड़वादी होने के कारण करुणा, नीति या आचारवाद पर विश्वास नहीं रखता। उसमें "आध्यात्मिकता (spirituality)" का स्वभावत: अभाव है।

मार्क्स का यह दर्शन, जैसा कि कहा जा चुका है, हीगल के तत्वज्ञान से 'चैतन्य' को ऋण करके ही निर्मित किया गया है। प्रो० लेवी के शब्दों में मार्क्स का यह दृष्टिकोण सर्वथा "वास्तववादी" है।

कई-मार्क्सवादियों का विश्वास है कि साहित्य-कला अपने समय को ही प्रतिबिम्बित करती है। वे यह नहीं मानते कि कलाकार भविष्य का भी स्वप्न देख सकता है; आत्मदर्शन में उनकी आस्था नही है। उनका कहना है कि संसार में कला, नीति, विज्ञान आदि का जो विकास दीख रहा है, वह भौतिक परिस्थिति को ही मूल रूप में धारण किए हुए है। अत: समय विशेष की कला आदि के विकास के कारणों को ढूंढने के लिए हमें तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक समस्याओं पर दृष्टिपात करना होगा। परन्तु मार्क्सवादियों की 'बाइबिल' 'केपिटल' (अंग्रेजी संस्करण) के भूमिकाकार लिखते है कि "Marx does not say, as some have represented him as saying that men act only from economic motives" (मनुष्य आर्थिक उद्देश्य को लेकर ही विकास करता है, यह मार्क्स कहीं नहीं कहता)। उसने तो मानव-उद्देश्यों की चर्चा ही नहीं की।

मार्क्सवादियों को अपने 'वाद' के एकाङ्गीपन का जब अनुभव हुआ तो वे उसका क्रमशः स्पष्टीकरण करने लगे। एंजिल ने अपने एक मित्र के पत्र में लिखा है—"Marx and I are partly responsible for the fact that at times our desciples have laid more weight upon the economic factor than belongs to it" (हमारे अनुयायियों ने आर्थिक तत्त्व को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है और इसके लिए मैं और मार्क्स ही जिम्मेदार है)।

"बाह्यकारणों के विद्यमान होते हुए भी हर देश और काल में 'क्रांति' क्यों नहीं मच जाती ?" की ओर जब मार्क्सवादियों का ध्यान गया, तो उन्हें अपने तत्वों की एकांगिता और भी अखर उठी। तब उन्होंने बाहर से जरा भीतर देखना प्रारम्भ किया और इसके लिये उन्होंने 'फ्राइड' का सहारा लिया। मार्क्सवाद में 'फ्राइड' का प्रवेश उसके दायरे की वृद्धि के लिये ही किया गया। आसबोर्न ने कहा भी है कि यदि 'मार्क्सवाद' की एकाङ्गिता नष्ट करनी है, तो फ्राइड के मानस-तत्वों को हमें अपनाना होगा ?" फ्राइड का मत है समाज-भय से जो वासनायें अतृप्त रहती हैं वे अन्तर्मन पर छाई रहती है और वे ही अनेक रूप धारण कर स्वप्न में प्रकट होती हैं। जब वासनायें असह्य हो उठती है, तब मन में अनेक विकृतियाँ पैदा हो जाती है। इसलिये व्यक्ति का यदि समुचित विकास अभीष्ट हो तो उसकी वासनाओं की प्यास बढ़ने नहीं देना चाहिये। फ्राइड ने काम-प्रेरणा पर ही जोर दिया है। फ्राइड को यद्यपि मार्क्सवादियों ने आत्मसात कर लिया है और इस तरह लजा कर जरा अन्तर्मुख होने का प्रयास किया है, परन्तु 'फ्राइड' की अनुसन्धान-दिशा भी भ्रमपूर्ण है; उसने मन की विकृतियों का विश्लेषण तो किया है परन्तु उसमें भी एकाङ्गीपन का दोष आ गया है। स्त्री-पुरुष के आकर्षण में लैङ्गिक विरोध ही कारणीभूत होता है, यह सर्वमान्य सिद्धांत नहीं है। प्रत्येक पुरुष प्रत्येक स्त्री की ओर काम-वासना की तीव्रता से ही खिचता है, यह पुत्र-माता, भाई-बहिन आदि के हृदयों में बहने वाले अजस्र प्रेम की निर्मलता स्वीकार नहीं करती। फ्राइडवाद विकृत (morbid) मन के स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में सम्भवतः लागू हो सकता है; स्वस्थ और ध्येयवादी मन का विश्लेषण फ्राइड ने यदि किया होता तो वह संत और साध्वियों की उन अनुभूतियों का कारण ढूंढ़ सकता था—जो अपने ही में भूले रहते, खिचे रहते थे।

"गगन गरजि बरसै अमी, बादर गहिर गँभीर। '
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजैं दास कबीर ॥ "

'मीरा' अपने किस स्थूल 'पुरुष' के लिए पागल हो गा उठती थी—**"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई"?** वासना-विहीन प्रेम को 'प्लेटेनिक लव' कहते हैं, जिसमे स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध लैङ्गिक आकर्षण से शून्य रहता है। पर 'मीरा' का प्रेमाधार तो प्रकृत पुरुष भी नही है। उसने तो प्लेटो के शब्दों में "प्रेम की उस भूमिका में प्रवेश किया था—जहाँ विरहाकुल आत्मा शाश्वत सौन्दर्य-प्रकाश में लीन हो जाती है।"

फ्राइड ने रोगी-मन का विश्लेषण कर जो मनोविज्ञान के तथ्य प्रस्तुत किए, उनसे आत्मप्रेरणा, आत्मानुभव तथा आत्मसाक्षात्कार की गुत्थियाँ नही हल होती। यदि फ्राइड के तत्त्वों को मान लिया जाय, तो हमारा सारा 'सन्त साहित्य' केवल 'बुद्धि की कसरत' ही रह जाता है; पार्थिव सम्बन्ध के अतिरिक्त भी हमारी एक आकांक्षा है—हमारे मन के अन्तरतम से बद्ध एक सूत्र है, जो अदृश्य होते हुए भी हमें खीचता है। हम बाह्य द्वन्द्व-सङ्घर्ष से ऊब-थक कर उससे हटना चाहते हैं; क्षण भर अपने मे ही खो जाना चाहते है। कभी-कभी भौतिक सुखों के बीच भी, रह-रह कर भीतर से अज्ञात टीस सी जगने लगती है। रवि बाबू के शब्दों में—"विरह-रोदन रह-रह कर कानों में प्रविष्ट होने लगता है।" इस तरह मनुष्य का भौतिक और आध्यात्मिक (बाहरी और भीतरी) दो प्रकार का जीवन स्पष्ट है। हमारी संस्कृति मनुष्य के एक मात्र भौतिक जीवन की कल्पना कर ही नही सकती। योरप मे भी विचारक अब कहने लगे है कि "युद्ध-पश्चात् का योरप चाहे जो रूप धारण करे, पर सच्चा परिवर्तन तभी संभव होगा जब हम आध्यात्मिक तत्त्वों को अपना लेंगे।"

यहाँ एक प्रश्न और विचारणीय है। वह यह कि क्या मार्क्स ने साहित्य-कला पर कोई विवेचना की है? नही, कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो (साम्यवादी विज्ञप्ति) में केवल यही कहा गया है कि "आज तक जो धंधे प्रतिष्ठित समझे जाते थे; जिनका आदरमय आतङ्क से उल्लेख किया जाता था, उन्हे 'बुर्जुआ वर्ग' ने श्री-हीन बना दिया है। डॉक्टर, वकील, धर्माचार्य. कवि और वैज्ञानिक उसके इशारे पर नाचने वाले 'भाड़ैती' (मजदूर) बने हुए है।" बुद्धि-जीवियों पर एक व्यंग मात्र किया था और उस समय क्रांति को सफल बनाने के लिए उसे ऐसे प्रचार-साहित्य की आवश्यकता भी थी, जिसमें शोषक-सम्प्रदाय को हतप्रभ बनाया जाय। उसके इस 'बकोटे' ने काम जरूर किया, पर उससे जो साहित्य निर्मित हुआ, वह अधिकांश प्रचार श्रेणी का ही रहा।

इसका आभास ट्राट्स्की के इन शब्दों में मिल जाता है—"साहित्यकार श्रमजीवी संस्कृति, श्रमजीवी कला की पुकार तो मचाते है पर उनकी दस बातों में से तीन बातें विवेक रहित होकर भावी (?) साम्यवादी जीवन की कला और संस्कृति की ओर निर्देश करती हैं; दो बातें भिन्न (?) श्रम-जीवन और श्रमजीवियों की विशेषताओं को इङ्गित करती है और शेष पाँच उन तत्वों की ओर इशारा करती हैं, जिनका कोई अर्थ ही नहीं होता।"

इसीलिए उसने चिढ कर यह भी कहा कि—"यह सत्य नहीं है कि हम अपने कवियों को सदा फैक्टरियों की चिमनियों या बुर्जुआ-वर्ग-विद्रोह के गीत ही गाने को कहते हैं। हम उसे ही प्रगतिशील नहीं मानते, जो श्रम-जीवियों का राग मात्र अलापता है।"

इस तरह हम देखते है, मार्क्सवादी साहित्य की धारणाओं में भी प्रगति हो रही है; अतः मार्क्स के मूल तत्वों को ही अपना आदर्श मान कर रचा जानेवाला साहित्य रूढ़िवादी ही समझा जायगा। आज तो प्रगतिशील कहलाने वाला साहित्यिक 'मार्क्सवादी' बनने के कारण विश्व के शरीर को ही देखना चाहता है; आत्मा को नहीं। इसी से उसका साहित्य वर्णन-प्रधान रहता है 'वस्तु' का यथार्थ वर्णन भी कला का एक अग है। हमारे बहुत कम साहित्यिकों को यह कला साध्य हुई है। वे कुछ देखते, कुछ सुनते और कुछ की कल्पना कर वस्तु या घटना को खींचने का प्रयत्न करते है। वे जिस स्थिति का खाका उतारना चाहते है, उसमें वे अपने को भली भांति रँग नहीं पाते। मज़दूरों और किसानों का जीवन उन्होंने बाहरी और भीतरी आँखों से नहीं देखा। उनकी स्थिति हमें बर्नार्डशा के 'मेन एण्ड सुपरमेन' के मेंडोज़ा-सी लगती है, जो समय की हवा समझ कर ही अपने को साम्यवादी कहलाना चाहता है। ऐसे लेखकों की रचनाओं में वास्तविकता—यथार्थता—की खोज करना कठिन ही है। यह तो स्पष्ट ही है कि लेखकों में अधिकांश मध्यम-श्रेणी का प्रतिनिधित्व रखते हैं। अतः उन्हें निम्नश्रेणी की समस्याओं का बहुत कुछ अपनी सभ्यता और स्थिति से ही चित्रण करना पड़ता है। ऐसा चित्रण किस हद तक सफल होता है, इसकी आलोचना 'लन्दन मर्क्यूरी' में एक शोषित-वर्गीय लेखक 'विलियम नहल' ने इन शब्दों में की है—

"What have this tribe of middle-class lawyers, persons and scribes to tell me about my class? How can they possibly know what life looks like to us......

The truth is that......it requires very powerful faculties of imagination indeed, to portray accurately and with any degree of fulness, characters that brearhe out of his own little social tradition." (ये मध्यम श्रेणी के वकील, पादरी और लेखक मेरे समाज के विषय में क्या कह सकते हैं ? हमें जीवन का कैसा अनुभव हो रहा है, इसे ये क्या जानेंगे ? सच तो यह है कि अपने समाज की सीमित परम्परा के बाहर अन्यवर्ग के ठीक-ठीक हूबहू चित्रण के लिए बड़ी भारी कल्पना-शक्ति की आवश्यकता पड़ती है।)

हमारे लेखक बन्द कमरों में बैठ कर युद्ध-क्षेत्र की विभीषिका का चित्र उतारने का प्रयत्न करते हैं। उनके प्रयत्न मे कल्पना की उड़ान मिल सकती है। परन्तु उस क्षेत्र का चित्र कैसे दिख सकता है, जिसे उनकी आँखों ने कभी देखा ही नहीं। तभी उनके यथार्थ कहे गये वर्णन निर्जीव रहते हैं ! रूसी लेखकों के विषयो को अपना बना लेना आसान है, पर उन विषयों मे अपनापन भरना आसान नही है, क्योकि रूसी लेखकों ने अपनी आँखों से किसान-मजदूरों की क्रांति देखी और उसके परिणामों को अनुभव किया था। हमें उस समय सचमुच बड़ी हँसी आती है, जब हम अपने कवियो के 'कृषक और मजदूरों के विजय-गीत' पढते है ! अभी तो उनका संघर्ष प्रारम्भ ही नही हुआ, उन्हें यह भी भान नही है कि साम्यवाद क्या बला है। क्रांति उनके रक्त और प्राण-दान से अपनी प्यास बुझा भी नही पाई और कवियों ने उनके मुख मे विजय के गीत भर दिए !! क्या यही उनका वास्तववाद है ? सच्चा रूसी लेखक क्या करता है, इसे वी० किरपोटीन के शब्दों में पढिए—

"Soviet literature is unusually thirsty for life, it ceaselessly watches life and learns from life The best Soviet writers would be ashamed to write on a theme that was not of a social character, on a theme that they had not studied This knowledge of life is often achieved through a direct participation in it in the life of the factory, the construction and the collective farms." (सोवियट-साहित्य जीवन के लिए अत्यधिक प्यासा रहता है, वह लगातार जीवन का निरीक्षण करता और जीवन से ही सीखता है। श्रेष्ठ लेखक समाज के अतिरिक्त अन्य किसी विषय पर या ऐसे विषयों पर जिसका

उसने स्वयं अध्ययन नहीं किया, लिखने में लजायेगा। जीवन का ज्ञान स्वयं अनुभव लेकर प्राप्त किया जाता है—कारखानों और खेतों में काम करके।)

जहाँ स्वयं अनुभूति नहीं है—कोरी कल्पना या भावुकता है, वहाँ यह कहा जा सकता है कि मार्क्स-दर्शन की हत्या है, यथार्थवाद का अभाव है!

योरप में कई समाजवादी यथार्थदर्शी लेखकों ने अपने ध्येय की खोज में युद्ध के मैदानों में अपने प्राणों तक की आहुति दे डाली है—किसान और मजदूरों के साथ समरस होना उनके लिए साधारण बात रही है! तभी उनके लेखन में क़ोरी चित्रात्मकता नहीं, अनुभूतिमय स्फुलिङ्ग भी धधक रहे हैं। अभिव्यञ्जनावादी कह सकते है कि 'चित्रात्मकता' भी कला का 'सुन्दरम्' है, पर 'कला' का 'सुन्दरम्' जीवन के 'सत्यम्' के अभाव में 'शिवम्' कैसे बन सकेगा? 'आनन्द'—रस—का संचार कैसे कर सकेगा?

यह कहा जा सकता है कि हम 'आज' से आँखें बन्द कर स्थिर नहीं रह सकते। समाज में जो राजनीतिक चेतनता का नयनोन्मीलन हो रहा है, उसकी ओर हमारा खिंचना स्वाभाविक है। पर प्रश्न यह है कि जिस 'चेतना' का चित्र कवि अपनी रचनाओं में खींच रहे है, उसमें 'सत्यता' है या केवल अभिनय-मात्र है? हमारे देश में तो रूसी कृषक-मजदूर-वर्ग की मनो-भूमिका ही निर्मित नहीं हो पाई है। जो 'गीत' उनके नाम पर गाये जाते हैं, वे गायक की बुद्धि की सृष्टि होते है। कृषक की आत्मा उनके साथ समरस नहीं हो पाती, क्योंकि वह उसकी चीज़ नहीं है। राजनीति के रह-रह परिवर्तित होनेवाली लहरों के साथ कविता की गति कैसे बाँधी जा सकती है? कविता प्रचार का साधन-मात्र नहीं बन सकती। रूस में समाज और राजनीति के सिद्धान्त प्रयोगावस्था में ही रहे हैं। आज वहाँ तो साम्यवादी महान् अन्तर्राष्ट्रीय तृतीय संस्था (Third International) को ही भङ्ग कर दिया गया है और पारिवारिक प्रथा को पुन: जीवन-दान दिया जा रहा है। धर्म का 'ईश्वर' भी गिरजों में मुसकुराने लगा है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वहाँ भी जनता के हृदय ने कतिपय बुद्धिवादियों के समाज, धर्म और राजनीति के तत्वों को ग्रहण नहीं किया था। अत: यह भी कहा जा सकता है कि वहाँ के साम्यवादी साहित्य में राष्ट्र या जातीयता की आत्मा का स्वर नहीं था; वह व्यक्ति विशेषों (रचयिताओं) की बुद्धि का कौशल मात्र था; अधिक से अधिक भावी युग का स्वप्न था। पच्चीस-तीस वर्षों के पश्चात् जब रूसी तरुण की आँखें कथित 'प्रगतिवादी' साहित्य पर दौड़ेंगी,

तब वह उसके विनोद की चीज़ ही होगा। उसका महत्व प्रचार-पत्रों से अधिक नही रह जायगा। काव्य, घटनाओं का इतिहास नहीं, जातीय मनोवृत्तियों का प्रतिबिम्ब होता है। राजनीति काव्य को प्रचार का वाहन बना कर तो स्वयं 'प्रगति' कर लेती है पर 'काव्य' की अगति (दुर्गति?)' ही हो जाती है। समय साहित्य में झाँकता अवश्य है, पर वह अपना आन्तरिक स्पन्दन लेकर ही उसमें आता है, विशेषतः काव्य में तो वह व्यापक–सामान्य–मनोभावों के साथ ही तरङ्गित होता है।

'प्रसाद' प्रधानतः अन्तर्वृत्ति निरूपक कवि हैं। वे अपने भीतर स्वयं को तथा वस्तु–जगत् को भी देखते हैं। 'समय' की सर्वसाधारण-व्यापक–चेतनाओं के प्रति वे सजग हो उठते हैं। उनकी कृतियों में युग–धर्म में उच्छ्वसित होनेवाली 'प्रगतिशीलता' के दर्शन होते हैं। उन्होंने मानव और मानवता के प्रति अपने राग को प्रदर्शित किया है और मानववाद इस युग की आतुर पुकार है। मैक्सिम गोर्की ने कहा है—"मनुष्य गौरव से भरा हुआ एक शब्द है।" वाल्टर ह्विटमैन के शब्द हैं—"मैं अपनी जाति पर बलि जाता हूँ।" एक स्थल पर वह यह भी लिखता है—

"Te be surrounded by beautiful, curious beings, laughing flesh, is enough. I do not ask more delight. I swim in it as in a sea. There is something in staying close to men and women and working in them and in contact and odour of them, that pleases the soul well." (स्त्री–पुरुषों के सम्पर्क में रहना मुझे बहुत अच्छा लगता है; उनके सान्निध्य तथा सुरभि से मैं मस्त हो जाता हूँ—मेरी आत्मा खिल उठती है।) कीट्स भी इसी भाव–प्रवाह में बहे हैं—"A thing of beauty is joy for ever" (सुन्दर वस्तु सतत आह्लाद की वर्षा करती रहती है।)

मानव राग और मानवता की प्रवृत्ति का अर्थ हो सकता है—

(१) स्त्री–पुरुष के प्रति प्रेम–भाव (व्यष्टि–प्रेम)

(२) मनुष्य जाति के प्रति समानता की दृष्टि (समष्टि–प्रेम)

(३) नरेतर प्राणियों के प्रति कोमलता की भावना।

(४) अप्रकृत रूढ़ियों के प्रति अनास्था।

स्त्री–पुरुष के प्रति प्रेम–भाव (व्यष्टि–प्रेम)

'प्रसाद' ने ह्विटमैन के समान 'स्थूल' पर आसक्ति तो प्रदर्शित की है, पर उसका वही पर्यवसान नहीं हो गया है। उनका प्रेम 'सीमा' में पहुँच कर वहीं बँध और छटपटा कर समाप्त नहीं हो गया। * वह 'परिरम्भ–कुम्भ' की मदिरा पीना चाहता है, नि:श्वास मलय के झोंके खाना चाहता है, मुख–चन्द्र चाँदनी–जल से अपना मुँह धोना चाहता है, † और अपने 'आश्रय' के साथ परम सौन्दर्य के दर्शन कर 'आनन्द' की अजस्र वर्षा में भीग कर सिहर भी उठना चाहता है।

विशुद्ध मानवी आसक्ति को 'परम-प्रेम' में ढाल लेने की वृत्ति कवि के स्तर को बहुत ऊँचा उठा देती है।

कामायनी में स्त्री-पुरुष के प्रेम के दृष्टिकोणों की अच्छी व्याख्या मिलती है। 'स्त्री' का प्रेम निर्बन्ध होता है, वह तो 'दान' करना ही जानती है; प्रतिकार के लिए उसकी उत्कण्ठा उसे अशान्त नहीं बनाती। स्त्री एक

" * इस पथ का उद्देश्य नहीं है, श्रान्त–भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं?" प्रेम–पथिक

† (१) " परिरम्भ कुम्भ की मदिरा, नि:श्वास मलय के झोंके।
मुखचन्द्र चाँदनी–जल से मैं उठता था मुँह धोके।"—आँसू

(२) 'स्थूल' के प्रति आसक्ति का उच्छ्वास निम्न-पंक्तियों से नि:सृत हो रहा है—

" जिसे चाह तू उसे न कर आँखों से कुछ भी दूर।
मिला रहे मन, मन से, छाती, छाती से भरपूर।"

और भी— झरना

" निभृत था—पर हम दोनों थे, वृत्तियाँ रह न सकीं फिर दान्त।
कहा जब व्याकुल हो उनसे— मिलेगा कब ऐसा एकान्त?
हाथ में हाथ लिया मैंने, हुए वे सहसा शिथिल नितान्त।
मलय ताड़ित किसलय कोमल, हिल उठी उँगली, देखा, भ्रान्त।।" झरना

'प्रसाद' मानसिक प्रेम (Spiritual love) को आदर्श मानते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से 'स्थूल' के प्रति आकर्षण और सम्पर्क का विरोध नहीं करते थे। 'आँसू' में सम्भोग–शृंगार के चित्र बड़े स्पष्ट हैं।

बार किसी से प्रेम करने के बाद प्रिय के अनुकूल न सिद्ध होने पर भी—उसके छल करने पर भी—सतत उसी की ओर खिचती रहती है।* 'श्रद्धा' मनु की हिंसावृत्ति से क्षुब्ध हो जाती है—

"कितना दुःख जिसे मैं चाहूँ, वह कुछ और बना हो।
मेरा मानस चित्र खींचना, सुन्दर सा सपना हो।"

फिर भी जब मनु उसकी आँखों के सामने आजाता है, तो वह अन्तरतम की प्यास को अपने ही विषाद के 'पानी' से बुझाने को नहीं ठहरती; उसमें अपने को खो देती है। कुछ क्षण पूर्व ही मन के पर्दे पर दौड़ पड़ने वाले ये विचार न जाने कहाँ लोप हो जाते हैं—

"स्खलन चेतना के कौशल का, भूल जिसे कहते हैं।
एक बिंदु, जिसमें विषाद के, नद उमड़े रहते हैं।
आह, वही अपराध, जगत की दुर्बलता की माया।
धरणी की वर्जित मादकता, संचित तम की छाया।"

नारी के त्याग का—आत्म-समर्पण का—कामायनी की 'श्रद्धा' उज्ज्वल प्रतीक है। मनु (पुरुष) उससे रूठ कर अपने मन को इड़ा में उलझाना चाहता है, फिर भी श्रद्धा उसकी 'सेवा' और उसके 'दर्शन' को व्यग्र हो जाती है और अन्त में उसे जीवन के चरम लक्ष्य की ओर ले जाकर ही संतुष्ट होती है। अपने 'प्रिय' की कल्याण-साधना में नारी अपने वैभव और 'सुहाग'-सुख तक की खुशी खुशी बलि चढा देती है। मनु केवल अपना ही चित्र श्रद्धा की 'पुतली' में देखना चाहता था। उसे श्रद्धा की प्रेम-भावना का उसी के पुत्र में विकीर्ण होना भी सह्य नहीं हुआ! उसने गर्भस्थ शिशु के प्रति-श्रद्धा के उद्गीर्ण भावों को सुन कर ही उसका त्याग कर दिया। अतएव श्रद्धा ने भी जब दुबारा मनु से भेंट की, तो अपने 'कुमार' का ही पहले उसने त्याग किया। मनु को यह बात अखरी भी, पर वह तो सब कुछ खोकर भी, मनु को पाना चाहती थी। बिना एक उसास, एक आँसू के वह मनु के साथ जीवन के विस्तृत पथ पर चल पडती है। तभी तो श्रद्धा कहती है—

---

* प्रिय को ठुकरा कर भी मन की, माया उलझा लेती।
प्रणय-शिला प्रत्यावर्तन में, उसको लौटा देती।

कामायनी

"मैं दुःख को सुख कर लेती हूँ।"

....

अनुराग भरी हूँ मधुर घोल।"

'श्रद्धा' में भारतीय नारी के उत्सर्गमय प्रेम का अत्यन्त मोहक रूप झलक रहा है।

पुरुष के प्रेम का प्रतीक 'कामायनी' का मनु समझा जा सकता है पर उसके राग में निर्मलता नहीं है, ऊषा सी पवित्र लालिमा नहीं है। वह सीमित है अपनी ही मनोवृत्तियों के उलझन भरे काँटों से। पुरुष सौन्दर्य पर रीझता है; गुणों की ओर आकर्षित होता है, पर अपने अस्तित्व को प्रतिदान पाकर ही मिटाना चाहता है; 'नारी' प्रेम करने के बाद तर्क-वितर्क ही नहीं करती; अपने अस्तित्व को ही विस्मृत कर देती है। पुरुष अपनी प्रेमिका की आँखों में अपना ही चित्र, मन में अपना ही ध्यान और हृदय में अपना ही स्पन्दन चाहता है! तभी वह अपने मानस-मुकुर में उसे प्रतिबिम्बित रख सकता है।* 'प्रसाद' का 'पुरुष' अपने प्रिय के प्रेम को इतना अधिक सीमित कर देना चाहता है कि उसकी छाया का उसके 'पुत्र' की ओर झुकना भी उसमें 'द्विविधा' का विष घोल देता है।

'श्रद्धा' जब अपने भावी पुत्र के बाल-विनोद की कल्पना कर उमग उठती है—

"मेरी आँखों का सब पानी, जब बन जायेगा अमृत स्निग्ध।
उन निर्विकार नयनों में जब, देखूँगी अपना चित्र मुग्ध।"

तब 'मनु' की ईर्ष्या अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाती है। वह कहता है—

"यह जलन नहीं सह सकता मैं,
चाहिये मुझे मेरा ममत्व;
इस पञ्चभूत की रचना में,
मैं रमण करूँगा बन एक सत्व।

* "काली आँखों की (?) तारा में, मैं देखूँ अपना चित्र धन्य।
मेरा (?) मानस का मुकुर रहे, प्रतिबिम्बित तुमसे ही अनन्य।"
"केवल मेरी ही चिन्ता का, तव चित्त बहन कर रहे भार।"
कामायनी

यह द्वैत, अरे यह द्विविधा तो,
है प्रेम बाँटने का प्रकार।
भिक्षुक मैं ना, यह कभी नहीं,
मैं लौटा लूँगा निज विचार।"

'प्रसाद' ने पुरुष की ईर्ष्या का जो स्वरूप उक्त पंक्तियों में खींचा है उसे सामान्य कहने को जी नही चाहता। पुरुष को प्रेम का वितरीकरण सह्य नही, माना। पर प्रेम के जिस स्वरूप को श्रद्धा बाँटना चाहती थी, वह तो मनु की आसक्ति का न था, वह अपनी आँखों की पुतली में मनु के पुत्र का चित्र, जिसे मनु की छाया ही कहा जा सकता है, उतारना चाहती थी। श्रद्धा की आँखें यदि किसी ऐसे व्यक्ति पर जमती जिसमें 'स्खलित' यौन-भावना के मधु बुन्दों का प्रमाद होता, तो मनु की ईर्ष्या यदि साक्षात् अग्नि बन कर भी श्रद्धा को भस्म कर डालती, तो हमें उसमें लेशमात्र भी अस्वाभाविकता न दीख पड़ती; उसमें हम पुरुष की एकान्त भावना के अतिरेक का आघात कारणीभूत देख सकते थे। पर श्रद्धा के "वात्सल्य" के प्रति मनु की ईर्ष्या का पतित प्रदर्शन अप्रासादिक प्रतीत होता है। "प्रेम गली अति सांकरी तामें दो न समायँ"; उसी दशा में ईर्ष्या का कारण बन सकती है, जब उसमें समान भाव के 'दो' प्रविष्ट होना चाहते हों। इतना ही नहीं, 'प्रसाद' का पुरुष तो अपनी प्रेयसी का ध्यान पशु की ओर खिंचते देख कर भी ईर्ष्या से सुलगने लगता है।

कवि ने पुरुष को प्रेम में अनुदार, ईर्ष्यालु, असंयत और स्वार्थान्ध चित्रित किया है। उसमें नारी के अनुराग के समान निर्मलता, त्याग, व्यापकता और कर्तव्य-सजगता नही देखी। तभी उन्होंने पुरुष से उसकी 'चेतना' का 'नारी' के चरणों में समर्पण कराया है—

"आज ले लो 'चेतना' का यह समर्पण दान।
विश्वरानी! सुन्दरी नारी! जगत की मान।"

प्रसाद ने व्यक्ति--प्रेम में उत्सर्ग—त्याग—की महत्ता मानते हुए भी शारीरी सम्बन्ध की तनिक भी उपेक्षा नही की है—एन्द्रिकता को स्वाभाविक मानकर ही वे चले हैं:—

"और एक फिर व्याकुल चुम्बन, रक्त खौलता जिससे
शीतल प्राण धधक उठता है, तृषा तृप्ति के मिस से।"

कामायनी

जब यौवन के माधवी-कुंज' में कोकिल बोल उठती है, अपने आप हृदय शिथिल हो जाता है और तब 'लाज के बन्धन' अजाने ही खुल जाते हैं—'बिछलन' भरी चाँदनी रात अपने 'कम्पित अधर' से बहकाने की बात ही तो कहती है ! यौवन में आँखों की 'प्यास' और अतृप्तिजन्य तड़पन के प्रति कवि निठुर नही हुए। उन्होंने 'आँख' और 'मन' दोनों के खेलों में उल्लास अनुभव किया है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक फ्राइड कहता है कि मनोविकारों का दमन अस्वास्थ्यकर है। मानस और शरीरी सन्तुलन के लिए उनका एकबारगी विस्फोट हो जाना आवश्यक है। व्यक्ति-प्रेम में 'प्रसाद' का भी प्राय: यही विश्वास बोलता है पर वे प्रेम का आदि और अन्त एन्द्रिकता नही मानते। उनका प्रेम 'अञ्जन रेखा' के 'काले पानी' की सज़ा काट कर निष्पाप बन जाता है और तब उसे, जो दिखाई देने पर भी नहीं दीख पड़ता, धडकनों में काँप कर भी दूर समझ पड़ता है; खोजने के लिये वह 'ग्रह पथ' में टकराने को दौड़ जाता है। वह 'यही' नही ठहरना चाहता:—

"यह क्या श्रद्धे ! बस तू ले चल,
उन चरणों तक दे निज सम्बल।
सब पाप-पुण्य जिसमें जल-जल
पावन बन जाते हैं निर्मल;
मिटते असत्य से ज्ञान लेश,
समरस अखण्ड आनन्द वेश।"

कामायनी

प्रगतिवादियों के साम्प्रदायिक मत से 'प्रसाद' का यही, विरोध टक्कर खाता है। वे भौतिकता को ही सब कुछ मानते है, ये 'भौतिकता' का मान करते हुए भी उससे परे के 'रहस्य' को सब कुछ मानते है। यही उनकी 'समरसता' है।

समष्टि प्रेम में आधुनिकता

'प्रसाद' का कवि व्यक्ति प्रेम में 'वल्लरियों' के बीच मधु की प्यास भर कर ही उलझ नही गया है वह अपने लोक-पक्ष में भी विश्व-व्यापी सहानुभूति—बिखेरता दीख पडता है।

"फिर उन निराश नयनों की, जिनके आँसू सूखे हैं।
उस प्रलय—दशा को देखा, जो चिर वञ्चित, भूखे हैं।"

आँसू.

'प्रगतिवादियों' के समान वे भी 'दीन दुखियों' के प्रति अपनी भावना उँड़ेलते हैं—

"दीन दुखियों को देख आतुर अधीर अति,
करुणा के साथ उनके भी कभी रोते चलो।"

झरना

सुख, अधिकार और धन के केन्द्रीकरण के प्रति भी उनका स्वरोद्घोष सुन पड़ता है।

"अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है, अपना नाश करेगा!
औरों को हँसते देखो मनु, हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो, सबको सुखी बनाओ।"

कामायनी

क्योंकि जो 'अपने में सुख को सीमित' कर लेता है वह दूसरों के लिए केवल दुःख ही तो छोड़ सकता है। इसीलिए कवि का प्रश्न है—

"इतर प्राणियों की पीड़ा लख, अपना मुँह मोड़ोगे?"

जो अपने 'धन' को अपने ही उपयोग के लिए बटोर रखते हैं उनके अस्तित्व का कवि अन्त ही चाहते हैं—

'ये मुद्रित कलियाँ दल में, सब सौरभ बन्दी कर लें,
सरस न हो मकरंद बिन्दु से, खुल कर तो ये मर लें।'

कामायनी

कवि का 'Live and let live' (स्वयं जीवित रहो और दूसरों को भी जीने दो) में अटूट विश्वास रहा है—

"क्यों इतना आतङ्क ठहर जाओ गर्वीले!
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले।"

'प्रसाद' की यही 'समरसता' है जिसे पाने के लिए उनकी आत्मा विह्वल होती रही है।

नरेतर प्राणियों के प्रति कोमलता की भावना

'प्रसाद' का हृदय कोमल भावनाओं से ही स्पन्दित होता रहा है। उसमे पशु–पक्षियों के प्रति भी सहानुभूति उमड़ी है। 'स्कन्दगुप्त', 'जन्मेजय का नाग यज्ञ,' 'कामायनी' आदि में उन्होंने पशु–हिंसा की तीव्रतम भर्त्सना की है। कामायनी में तो श्रद्धा और मनु के प्रेम में 'पशु–हिंसा' ही 'सन्देह' और 'अवसाद' की सृष्टि करती है। जब 'श्रद्धा' मनु की 'हिंसा-वृत्ति' को

देखती है, तो इतनी अधिक खिन्न हो उठती है कि वह अपने को ही कोसने लगती है, अपने हृदय के उस सम्मान पर झुँझला उठती है, जो 'मनु' के चरणों में आत्म-समर्पण करने को व्याकुल हो उठी थी। उसके इन शब्दों मे कितनी मार्मिक व्यथा सिसक रही है—

" कितना दुख जिसे मैं चाहूँ, वह कुछ और बना हो।
मेरा मानस चित्र खींचना सुन्दर सा सपना हो।"

अप्रकृत रूढ़ियों के प्रति अनास्था

रूढ़ियों में बँधे रहते हुए भी 'प्रसाद' के कवि ने उनकी आस्था नहीं की। वे कहते हैं:—

पुरातनता का यह निर्मोक,
सहन करती न प्रकृति पल एक।
नित्य नूतनता का आनंद,
किये है परिवर्तन में टेक।

वे टेनीसन के

'Old order - changeth,
Yielding place to new'k
Lest good custom
should corrupt the world'

में विश्वास करते थे। धर्माडम्बर से उन्हें अरुचि थी, उनका विश्वास था कि यदि हम किसी दीन-दुःखी पर क्षण भर भी दया दिखायें, तो वह घंटों की प्रार्थना से अधिक फलप्रद होगी। 'झरना' में हम पढ़ते हैं—

" प्रार्थना और तपस्या क्यों?
पुजारी किसकी है यह भक्ति?
डरा है तू निज पापों से
इसी से करता निज अपमान।
दुखी पर करुणा क्षण भर हो
प्रार्थना पहरों के बदले।
मुझे विश्वास है कि वह सत्य
करेगा आकर तव सम्मान।"

एक स्थल पर आपके वर्ण-व्यवस्था के विचारों की भी प्रतिध्वनि सुन पड़ती है—

"वर्णभेद सामाजिक जीवन का क्रियात्मक विभाग है। यह जनता के कल्याण के लिए बना, परंतु द्वेष की सृष्टि में, दम्भ का मिथ्या गर्व उत्पन्न करने में, यह अधिक सहायक हुआ है। जिस कल्याण बुद्धि से इसका आरम्भ हुआ वह न रहा; गुण–कर्मानुसार वर्णों की स्थिति नष्ट होकर, अभिजात्य के अभिमान में परिणत हो गई।"

'प्रसाद' को इसीलिए बौद्धदर्शन से अभिरुचि थी कि वह 'बुद्धिवाद' पर आश्रित है परन्तु वह एकदम ही 'बुद्धिवादी' नहीं हैं; उनमें 'श्रद्धा' का स्रोत भी बहता है। उनकी अज्ञात शक्ति पर भी श्रद्धा है। उनका प्रातिभ ज्ञान (Intuition) उनमे यह विश्वास भरता है कि क्षितिज के परे ऐसी अनेक रहस्यमय वस्तुएँ है जिनका यह जगत स्वप्न भी नही देख सकता। उनकी आत्मा 'हिमशैल–बालिका' के समान उस परमात्म-सागर से मिलने को अपने आप ही व्याकुल हो उठती है, जिसे उसने केवल 'स्वप्नावस्था' में–'हाल-दशा' में—ही देखा था—

"देवलोक की अमृत कथा की माया
छोड़ हरित कानन की आलस-छाया—
विश्राम माँगती अपना।
जिसका देखा था सपना।"

—लहर

तात्पर्य यह कि 'प्रसाद' बुद्धिवादी होते हुए भी आन्तरिक समवेदना पर अविश्वास नहीं करते थे। 'कामायनी' में उन्होंने बुद्धि और हृदय के सामञ्जस्य को ही साधु बतलाया है। प्रगतिवादी आज केवल बुद्धि की सत्ता ही मानता है, प्रातिभ ज्ञान (Intuiton) उसके 'कोष' में नहीं है।

प्रयोगवाद और 'प्रसाद'

प्रगतिवाद की एकाङ्गिता को अनुभव कर अब उत्साही कवि काव्य की वस्तु और उसकी शैली के नए नए प्रयोग कर रहे हैं। 'अज्ञेय' ने 'तार-सप्तक' नामक एक कविता-संग्रह प्रकाशित किया था, जिसमें हिन्दी के नूतन प्रयोगशील कवियों की कृतियों का संकलन है। उसकी भूमिका में 'अज्ञेय' ने यद्यपि यह स्पष्ट लिख दिया था कि प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे। प्रयोग न अपने आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का कोई वाद नही है, कविता अपने आप में इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है, जितना हमें कवितावादी कहना।' फिर भी शैली की अभिनवता, नूतन प्रतीक, कल्पनाएँ, प्रचलित पदों का प्रयोग तथा नवीन छन्दों का सृजन, जिस रचना में पाया जाता है उसे 'प्रयोगवादी' रचना कहा जाने लगा है और अज्ञेय पर प्रयोगवाद के आचार्यत्व का सेहरा (उनकी इच्छा के विरुद्ध) बंध ही गया। तारसप्तक का दूसरा भाग प्रकाशित कर और 'प्रतीक' द्वारा ऐसी रचनाओं को महत्व देकर उन्होंने 'प्रयोगवाद' का युग चला ही दिया। प्रयोगवाद का प्रयोग यद्यपि कविता के संबंध से हुआ था, पर अब साहित्य के सभी विलक्षण प्रयोग प्रयोगवाद

कहलाने लगे हैं। अज्ञेय का 'नदी में द्वीप' 'भारती' का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' भी प्रयोगवादी उपन्यासों के उदाहरण कहे जाते है। हाँ तो, कविता के सबंध में प्रयोगवाद कहाँ तक लागू होता है इसका परिसवाद आल इंडिया रेडियो से प्रसारित हुआ था, जिसमें पंत, शिवमंगल सिंह 'सुमन', 'भगवतीचरण वर्मा, 'अज्ञेय', 'अश्क' और भारती ने भाग लिया था। पंत ने भूमिका के रूप में 'वाद' पर प्रकाश डालते हुए कहा था—

"क्लासिकल अथवा प्राचीन काव्य में हमें शाश्वत तथा उदात्त के प्रति एक गंभीर आकर्षण, चिरंतन मान्यताओं के प्रति अटल विश्वास तथा सार्वलौकिकता के प्रति एक असदिग्ध आग्रह मिलता है। उसमे एक ओर चरित्र की महत्ता और दूसरी ओर वस्तु जगत् का स्थायित्व दृष्टिगोचर होता है। छायावाद में शाश्वत तथा उदात्त का स्थान रहस्य ने ले लिया। वस्तु–जगत् का स्थान भाव–जगत् और सार्वलौकिकता का स्थान वैयक्तिकता ने ग्रहण कर लिया। उसने वास्तविकता की उपेक्षा कर स्वप्न तथा आशा की सृष्टि की और कल्पना का सौन्दर्य–पट बुना। प्राचीन काव्य में भाव और वस्तु–जगत में एक संतुलन तथा तादात्म्य मिलता है। छायावाद ने वस्तु–जगत् को अपनी भावना की तूली से रँग दिया है।

"प्रयोगवादी काव्य जहाँ अपनी शैली तथा रूप-विधान में अति वैयक्तिक हो जाता है, वहाँ अपनी भावना मे जनवादी। वह छायावादी स्वप्नों के कोहरे को हटा कर एक नवीन वास्तविकता के मुख को पहचानना चाहता है और सूक्ष्म भाव–जगत् से हट कर फिर से वास्तविकता की भूमि पर उतरना चाहता है। पर उस भूमि में भूकम्प है। उसकी वास्तविकता बदल रही है। उसका परिवेश नवीन काव्य को घेरे हुए है। उसके भाव-जगत् और वस्तु–जगत् में एक विरोध आ गया है। वह परिस्थितियो के भार से दबा जा रहा है, वह उन्हें सँभाल नही पाता, उनकी कारा को तोड़ कर वह आगे बढ़ना चाहता है। वह बाहर, सुदूर बाहर की ओर देख रहा है, और उसी सबंध में अपने को समझना चाहता है। यह नवीन काव्य प्रभाववादी भी है। वह नित्य नवीन प्रभावों की छाया–वीथियों में चलता हुआ दिखाई देता है।"

विवाद के प्रश्न हैं—प्रयोगशील काव्य किसे कहते हैं? उसका क्या लक्ष्य है? वह क्या केवल प्रयोग के लिए प्रयोग है? क्या उसके लिए छंद-हीन सृष्टि आवश्यक है? क्या उसने हिन्दी कविता को वस्तु–विषय तथा शैली की दृष्टि से कोई नवीन दिशा प्रदान की है! इन प्रश्नों पर रेडियो की चर्चा में प्रकाश डालने का यत्न किया गया है।

'सुमन' ने प्रयोगवादी काव्य का कोई अभिप्राय बहुत स्पष्ट नहीं किया। उन्होंने उसे युग की बहुत बड़ी माँग कहा। वे उसे शैली-गत और व्यंजना-गत(?) चमत्कार मानते हैं। साथ ही उसमें विषय-गत और वस्तु-गत तत्त्व का पूर्ण समावेश भी पाते हैं। 'अज्ञेय' नयी परिस्थितियों के साथ नये प्रकार के रागात्मक संबंध को प्रयोगशील कविता का लक्षण समझते हैं। उसमें नये सत्यों या नयी यथार्थताओं का जीवित बोध भी वे पाते हैं। वे भी शैली के साथ साथ विषय और वस्तु की नवीनता का सबंध प्रयोगशील काव्य से जोड़ते हैं। प्रयोगशील कविता का लक्ष्य 'अज्ञेय' कविता के लक्ष्य से भिन्न नही मानते हैं, क्योंकि प्रयोग को वे साध्य न मान कर साधन मानते हैं, अर्थात् कविता का साध्य व्यक्ति-सत्य का साधारणी-करण करके आनद की सृष्टि करता है। 'सुमन' ने प्रयोगवादी कविता का आधार मुक्त छंद समझा है। परंतु भगवतीचरण वर्मा छद-हीनता में काव्य देखते ही नहीं। 'भारती' ने प्रयोगवादी कविता की धारा द्वितीय महायुद्ध के अंतिम वर्षों में उभरती हुई देखी है। उनके मत से द्वितीय महायुद्ध के कारण मध्य वर्ग को जिस प्रकार की उलझनों में फँसना पड़ा, वह एक ऐसी भाव-भूमि थी, जिसमें प्रयोगात्मकता अधिक पनप उठी। वे पिछली पगडंडियों से असतुष्ट थे और नयी पगडडियाँ ऐसी थी कि जिन पर कविता चल सकती थी। 'भारती' कविता में सामाजिक तत्त्वों को प्रमुख मानते हैं और उनका विश्वास है कि नये रूपों में (प्रयोगवादी कविताओं में) एक नवीन सामाजिक जनवादी दृष्टिकोण प्रतिष्ठित होगा। 'अज्ञेय' इस प्रकार की कविता में सामाजिक तत्त्व की प्रमुखता को स्वीकार नहीं करते। फ्रायड, मार्क्स, डार्विन सभी का प्रभाव नयी कविता पर पड़ा है, पर 'अज्ञेय' यह स्वीकार करते हैं कि इन तत्त्वों ने जीवन के संबंध में जो प्रकाश डाला है उससे हमारा रागात्मक लगाव नहीं हो पाया। अभी हमारा उसके प्रति केवल बौद्धिक आकर्षण है। प्रयोगवादी कविता में सबसे पहले नूतन विषय-वस्तु का स्वीकार होना चाहिये। यदि वही पुराने विषय-वे ही पुराने अनुभव है तो नूतन काव्य सृष्टि की आवश्यकता ही क्या है? इसके पश्चात् नवीन अनुभवों-सत्य-तथ्यों—को प्रकाशित करने के लिए कला के रूप की अभिनवता अपेक्षणीय है। भाषा, छन्द, अप्रस्तुत विधान सभी में नूतनता झलकनी चाहिये। यों तो कला में अलौकिकता नहीं है—सर्वथा नवीनता नही है। श्रीशिवदानसिंह चौहान ने अपने एक लेखमें "सोशल रूट्स ऑफ दी आर्टस, से निम्न पंक्तियाँ उद्धृत कर यही बात कही है—

"कोई भी कवि या कलाकार जब अपनी सामग्री को कलात्मक रूप देने की चेष्टा करता है तो वह सर्वथा नई वस्तु नही पैदा करता। वह प्राचीन से; अपने अनुभव से, समाज के पुंजीभूत अनुभव से प्राप्त सामग्री का उपयोग करता है। लेकिन उसके हाथ में पड़ कर वह समाज की तत्कालीन आवश्यकताओं और परिस्थितियों के साथ एक नए सम्बन्ध में गठित हो जाता है, और यदि यह प्रयोग सफल हुआ तो परिणामतः एक मौलिक कलाकृति की सृष्टि होती है; अतः परम्परा की आधारशिला पर (जिसका निर्माण मनुष्य जाति शताब्दियों में करती है) पाँव जमा कर ही एक कलाकार अपने जीवन के लघु वर्षों में भी एक महान स्रष्टा की बुलन्दी तक ऊपर उठ जाता है।" इस उद्धरण के बाद वे लिखते है—

'साहित्य या कला को सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय साहित्य की महानता और व्यापकता देने के लिये विगत की कौनसी परम्परा को नई कला या साहित्य में आत्मसात् करना चाहिये, इसका निर्णय तो प्रत्येक कलाकार या लेखक सामाजिक जीवन और संघर्षों की अपनी चेतना के अनुसार स्वयं करता है।" आज के प्रयोगवादी "प्राचीन काल के कलाकारों की तरह नई परिस्थितियों से प्राप्त नई विषय-वस्तु को मूर्त, सक्रिय और सधर्म रूप से प्रतिबिम्बित करने के निमित्त प्रयोग करना छोड़ कर केवल रूप-विधान और शैला को जान-बूझ कर अधिकाधिक निर्जीव, जटिल और दुरुह बनाने की चेष्टा ही नई प्रयोगशील (या वाद ?) कविता की विशेषता समझते हैं। यह प्रवृत्ति प्रतीकवाद और बिम्बवाद से प्रभावित है।"

तो, ऐसा जान पड़ता है, प्रयोगवादियों का लक्ष्य ऐसे प्रतीकों में अपने को अभिव्यक्त करना है जो असामान्य हों। ऐसी दशा में प्रेपणीयता (दूसरों में अपने भावों का सचार करने की क्षमता) कैसे रह सकेगी ?

जब 'अज्ञेय' के 'नदीके द्वीप' नामक प्रयोगवादी उपन्यास को जैनैन्द्र नहीं समझ पाये तो उस 'उपन्यास' की प्रेषणीयता क्या उसके लेखक तक ही सीमित है ? इसीलिए केवल प्रयोग के लिए प्रयोग कहाँ तक वांछनीय है, इसका निर्णय पाठकों पर ही छोड़ा जाता है। साहित्य–क्षेत्र में यह कुतूहल का विषय हो सकता है—इससे अधिक नहीं।

जैसा कि उपर कहा गया है, कविता में 'प्रयोग' आज की देन नहीं है, यह बहुत पुरानी प्रवृत्ति है। आधुनिक युग में 'प्रसाद' ने कविता के विषय और उसके रूप-विधान के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किये। उनका 'आँसू' और

'कामायनी' कविता का अभिनव प्रयोग है, एक काव्य के रूप में दूसरा महाकाव्य के रूप में। 'आँसू' के छन्द की लय सर्वथा 'प्रसाद' की सूझ है। इसीलिए स्वर्गीय अवध उपाध्याय ने उसका नामकरण ही 'आँसू' छन्द किया था। प्रतीकों का प्रयोग भी 'प्रसाद' ने कम नहीं किया, पर उनके प्रतीक सर्वथा उन्ही तक सीमित नही रहे। हरिश्चन्द्र युग में जिन विषयों तक कवि छलाग भरा करते थे, उनसे आगे 'प्रसाद' बढे और हिन्दी कविता में नूतनता के दर्शन कराने में समर्थ हुए। अभिव्यञ्जना (शैली) के प्रकार भी उनके अपने थे। इसीलिए 'पन्त' ने उन्हें आधुनिक हिन्दी कविता का 'सबसे प्रथम प्रयोगवादी कवि' उचित ही कहा है।

उपमाओ और प्रतीकों का अनूठापन 'प्रसाद' में कई स्थानों पर मिलता है:—

"धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश,
मधुर मुरली सी फिर भी मौन
किसी अज्ञात विश्व की विकल,
वेदना–दूती सी तुम कौन"

'धरा पर झुकने की क्रिया को प्रार्थना के सदृश कहने में उपमा की नवीनता ही नहीं, भाव का मूर्त–रूप भी निहित है।

कामायनी में प्रलय–काल के पश्चात् समुद्र के निकट तनिक भू–भाग बच रहा था। उसे लक्ष्य कर कवि कहता है—

"सिन्धु सेज पर धरा बधू अब,
तनिक संकुचित बैठी सी
प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में
मान किये सी ऐंठी सी"

लघु खंडित भू–भाग को 'बधू' का रूप देकर जो मान–लीला का रूपक बाँधा गया है, वह कवि की नई सूझ–बूझ का द्योतक है।

"कामायनी' की 'इडा' की अलकों का चित्रण कितना सूक्ष्म-कितना नूतन है—

"बिखरी अलकें ज्यों तर्क–जाल

'तर्क के जाले के समान' में उनकी एक दूसरे से क्रमशः उलझने की साथ ही शुष्कता की कितनी सुन्दर व्यञ्जना है!

स्कंदगुप्त नाटक में एक गीत है—

"आह ! वेदना मिली विदाई,
मैंने भ्रमवश जीवन-संञ्चित
मधुकरियों की भीख लुटाई !
छल-छल थे सन्ध्या के श्रमकन,
आँसू से गिरते थे प्रतिक्षण
मेरी यात्रा पर लेती थी—
नीरवता अनन्त अँगड़ाई ।"

सूनी यात्रा के लिए "नीरवता का अनन्त अँगड़ाई लेना"—नूतन कल्पना है।

'आँसू' में 'अञ्जन–रेखा' की सर्वथा अनूठी उपमा दी गई है—

"तिर रही अतृप्ति जलधि में
नीलम की नाव निराली
काला–पानी वेला सी,
है अञ्जन रेखा काली।"

जिस दर्शक की आँखें रमणी के नयनों में रञ्जित अञ्जन की रेखा को देख लेती है वे वहीं अटक रहती हैं–ठहर जाती हैं। उसकी अंजन–रेखा काले पानी के (अंदमान–निकोबार) समुद्र की वेला–(तट) है जहाँ एक बार जब 'अपराधी' पहुँच जाता है तो कठिनता से ही लौट कर आ पाता है।

इस तरह हम 'प्रसाद' के काव्य-ग्रन्थों से नूतन सूझ के और भी उदाहरण संकलित कर सकते हैं। नूतन छन्द–विधान और गीति शैली की अभिनवता भी 'प्रसाद' मे है। 'प्रयोग' कवि के हृदय का उल्लास है, यह नित नवीन रहना चाहता है। इसीलिए नए-नए प्रकारों से अपने को व्यक्त करना चाहता है। वह किसी 'वाद' का दास नहीं। उस की प्रवृत्ति का अध्ययन कर समीक्षक 'वादों' के नियमों का निर्माण करते हैं। 'प्रसाद' ने प्रयोग के लिये प्रयोग नहीं किये– अपने को ही विलक्षण ढंग से अभिव्यञ्जित किया। जहाँ लाक्षणिक प्रयोग 'दूरारूढ़' हैं या प्रतीक अस्पष्ट रह गए हैं, वहीं वे हम से दूर होगये है।

———

'प्रसाद' का नियतिवाद

'प्रसाद' को बुद्धिवादी मानते हुए भी हम उन्हें 'नियति' में आस्था रखते हुए पाते हैं और संभवतः बुद्धिवादी होने के कारण ही उन्होंने अपने जीवन—संघर्षों का यह परिणाम निकाला है कि मनुष्य 'नियति' की डोरी पर ही झूलता है, उसकी सारी चेष्टाएँ, 'अभिलाष' को अपने निकटतम अनुभव करने के सारे प्रयत्न, तभी सफल होते हैं, जब 'नियति' की भौंहों के बल खुलते हैं; जब 'भाग्य—रेखा' मुस्कराती है। वे कहते हैं—

'नियति' शब्द 'शैव'–दर्शन में भी आया है। शैवागमों में तत्त्वों की संख्या ३६ मानी गई है। उन्हीं में एक तत्त्व 'नियति' है जो 'जीव' की स्वातंत्र्य शक्ति का तिरस्कार करने वाला है। उसे माया की संतति माना गया है और माया को शिव की कार्य शक्ति। 'प्रसाद' कहते हैं—

"कौन उठा सकता है धुँधला पट भविष्य का जीवन में।"
"जिस मंदिर में देख रहे हो जलता रहता है कर्पूर।
कौन बता सकता है उसमें तेल न जलने पायेगा।"

प्रेम-पथिक

'कामायनी' में श्रद्धा और मनु रहस्यमय पथ पर चले जा रहे हैं। मनु के मन में आनन्द की लहरे उठ रही है। सहसा फिर मानों कोई उन्हें भीतर भीतर ही संशय से भर देता है—'नियति' की संदिग्ध छाया सी देख कर वे सहम उठते हैं—

"निराधार हैं, किन्तु ठहरना
हम दोनों को आज यहीं है।
नियति खेल देखूँ न, सुनो अब
इसका अन्य उपाय नहीं है।"

'प्रसाद' को पग-पग पर मानों यही प्रतिध्वनि सुन पड़ती है—

"नियति चलाती कर्म-चक्र यह"

तभी उनके हृदय से यह टीस उठती है—

"धरणी दुख माँग रही है,
आकाश छीनता सुख को।
अपने को देकर उनको,
हूँ देख रहा उस सुख को।"

आँसू

सुख-दुःख का समुच्चय ही 'जीवन' है। पर संसार तो दुःख से ही परिपूर्ण है। अतः जीवन में दुःख का भाग ही ससार-संघर्ष से मिलता है और सुख ? इसे पाने की कौन आशा ? यह तो शून्य में ही अन्तर्हित हैं। शायद 'नियति' ही उसे छीन रही है। अतः जीवन के सुख-दुःख दोनों की परवा न कर मै अपने 'प्रिय' के रूप को ही अपलक आँखों से देख रहा हूँ, पी रहा हूँ। फिर चाहे नियति दुःख के गर्त में ढकेल दे, चाहे सुख के स्वर्ग में ले जाय। 'उसकी' 'साधना' मे मैने जीवन के सुख-दुःख की चिन्ता का सर्वथा परित्याग कर दिया है। अपने को भाग्य के भरोसे छोड़ दिया है।

'कामायनी' मे मनु श्रद्धा से विछड़ कर 'खोखली शून्यता में प्रतिपद असफलता' की 'कुलाँच' देख कर चीख उठते है।

"इस नियति नटी के अति भीषण,
अभिनय की छाया नाच रही।"

'आँसू' में भी यही भाव कवि को उद्वेलित कर रहा था—

"नचती है नियति नटी सी,
कन्दुक-क्रीड़ा सी करती।

इस व्यथित-विश्व आँगनमें,
अपना अतृप्त मन भरती।"

संसार के प्राणियों को यह नटी 'कन्दुक' के समान उछालती रहती है और उनके उत्थान-पतन के साथ अपनी 'क्रीडा करती रहती है। मनुष्य उसके आगे निश्चेष्ट हो जाता है, विवश हो जाता है! 'प्रसाद' के नाटकों में पात्र कई बार भाग्य-नियति—के आगे आत्म-समर्पण कर देते हैं। "पर जीवन! आह! जितनी साँस चलती हैं, वे तो चल कर ही रुकेंगी।" (राज्यश्री)

कर्म-शक्ति पर अविश्वास का आवरण डालनेवाला यह नियति-तत्त्व सचमुच मनुष्य को एक ओर तो घोर निराशा से भर देता है और दूसरी ओर उसे अदृष्ट सत्ता में आस्था रखने को विवश करता है। साथ ही वह उसे जीवन में निर्द्वन्द्व और निर्भीक भी बनाता है। 'प्रसाद' की नियति-कल्पना पर श्री नंददुलारे वाजपेयी का मत है कि 'वह बहुत कुछ वैयक्तिक है। वह किसी क्रमागत, सिद्धान्त की प्रतिरूप मात्र नही।' यह कथन उन्होंने कामायनी के विवेचन के प्रसंग में कहा है पर मनु का 'चिन्ता' में गत जीवन का सिंहाव-लोकन क्या नियति की श्रृङ्खला की ओर इशारा नहीं करता? देवताओं ने विलासपूर्ण जीवन बिताया, इसीलिए देव मनु को उसका परिणाम भुगतना पड़ा! श्रद्धा की अकारण उपेक्षा ने भी मनु के पक्ष को कंटकहीन नहीं रहने दिया। पर हम वाजपेयीजी के इस कथन से सहमत हैं कि "प्रसाद की दृष्टि में नियति प्रकृति का नियमन और विश्व का संतुलन करने वाली शक्ति है।" और इसीलिए हम उसमें 'क्रमागत सिद्धान्त' भी देखते हैं।

'प्रसाद' का नियतिवाद जहाँ उन्हें बौद्धों के 'दु:खवाद' के निकट ले जाता है वहीं वह उन्हें बौद्धों के समान अनीश्वरवादी बनाने से भी रोकता है।

"हे अनन्त रमणीय! कौन तुम? यह मैं कैसे कह सकता,
कैसे हो? क्या हो? इसका तो भार विचार न सह सकता।
हे विराट! हे विश्व देव! तुम कुछ हो ऐसा होता भान"—
मन्द्र गँभीर धीर स्वर संयुत, यही कर रहा सागर गान।"

कामायनी

'प्रसाद' बुद्धिवादी होने के कारण किसी सम्प्रदायी मत के अन्धजाल में अपने को नहीं उलझा सके। मध्यकालीन सन्तों की भाँति

उन्होंने 'शैवों' के नियतिवाद की 'साक्षी' ही भरी है। अपनी अनुभूति के बल पर ही उन्होंने उसके चरणों मे सर झुका दिया है।

'प्रसाद' क्षय से पीड़ित थे। शरीर धीरे धीरे घुला जा रहा था। मित्रों ने आग्रह किया—'अभी रोग बढा नही है; किसी ठण्डे स्थान पर जाकर रहिए; काशी छोड़ दीजिए।' उन्होंने कहा—"मैं कहीं नही जाऊँगा। मैं जानता हूँ, जो होना होगा वह तो होकर हो रहेगा।"

'प्रसाद' अन्त समय तक काशी ही में रहे। यह उनका नियति-विश्वास था, जो जीवितावस्था तक उनकी प्रत्येक श्वास में बोलता था। समस्त साहित्य में उनके जीवन की सच्ची अनुभूति ही 'वाद' बन गई है।

हाल ही 'अजंता' (जुलाई १९५२) में प्रसाद जी के नियतिवाद के सम्बन्ध में श्री राय कृष्णदास जी ने श्री सहल जी को एक पत्र लिखा था, वह प्रकाशित हुआ है। उसमे भी हमारी उक्त धारणा का समर्थन होता है। वे लिखते है—

"प्रसाद जी का नियतिवाद न प्रारब्धवाद है और न शैवागमों का शास्त्रीयवाद विशेष। वह प्रसाद साहित्य की अनूठी देन है। उसे समझने के लिए पश्चिमी नाटककारों की 'डेस्टिनी' और शैवागमों की नियति दोनों का स्वरूप ध्यान में रखना पड़ता है। प्रसाद का लीलामय आनन्द और आधुनिक युग का विजयवाद 'आप्टीमिज्म' भी व्याख्या करने में सहायता देते है। अध्ययन की दृष्टि से प्रसाद जी का नियतियाद आधुनिक युग की साहित्यिक आवश्यकता है। उस पर विश्व साहित्य और भारतीय परम्परा दोनों का प्रभाव है। उसमें अध्यात्म और इहलोकवाद दोनों का समन्वय है। वह शास्त्र से ली हुई विचारधारा नही है; उसमे कवि की शुद्ध अनुभूति है। वह प्रसाद जी की अपनी विलक्षण वस्तु है, जिसने आनन्दवाद और कर्मयोग को पुष्ट किया है।

तुलनात्मक अध्ययन से ही नियति की व्याख्या स्पष्ट हो सकती है। पश्चिम मे प्राय: नियति क्रूर दीख पड़ती है। प्रसाद जो की नियति पूर्ण लीलामयी है। वह करुणा और दया की मूर्ति है।

प्रसाद जी के दो अमर वाक्य है : मनुष्य नियति का दास है। मनुष्य प्रकृति का अनुचर है।"

'प्रसाद' ने रायजी के शब्दों में नियति को भाग्य का पर्याय न भी माना हो तो भी वह 'भाग्य' से बहुत दूर नही है। भाग्य भी क्या है, वह तो कृतकर्म का फल ही है। नियति मनुष्य के जीवन का नियंत्रण करती रहनी है इसे 'प्रसाद'

अस्वीकार नहीं करते। 'जन्मेजय' के ये वाक्य इसी ओर इंगित करते हैं, जिन्हें श्री रायकृष्णदास जी ने उक्त पत्र में उद्धृत भी किया है—

"मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है। क्या वह करने में स्वतंत्र है?"

स्कन्दगुप्त में भी मनुष्य को नियति के हाथ का खिलौना कहा गया है—"चेतना कहती है कि तू राजा है और अन्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है—उसी खिलाड़ी पद्मशायी-बालक के हाथों का खिलौना है।" 'कामायनी' में भी मनुष्य के 'नियति-शासन' में विवश हो चलने की बात है—

"तप में निरत हुए मनु, नियमित—
कर्म लगे अपना करने।
विश्व रंग में कर्मजाल के,
सूत्र लगे घन हो घिरने।
उस एकान्त नियति-शासन में—
चले विवश धीरे धीरे
एक शान्त स्पन्दन लहरों का,
होता ज्यों सागर तीरे।"

यह बात सच है कि जहाँ 'प्रसाद' मनुष्य के समस्त व्यापार नियति द्वारा संचालित मानते है वहाँ वे मनुष्य को निष्क्रिय नही रखना चाहते। नियतिवादी में एक प्रकार की निर्भीकता भी आ जाती है। वह फल को नियति के हाथों सौंप कर्म-क्षेत्र में निश्शंक कूद पड़ता है!

'प्रसाद' की काव्य-कृतियाँ

'प्रसाद' में आधुनिक कविता का क्रम-विकास मिलता है। उसमें रीतिकालीन ब्रजभाषा की भाव-छटा ×, खड़ी बोली का अटपट इतिवृत्तात्मक प्रारम्भिक स्वर और फिर उसका परिष्कृत भाव-सौन्दर्य का उदय और उसकी चरम सीमा के दर्शन होते हैं; मुक्तक में भावों का दर्द सा उठना और आँसू सा ढलक जाना तथा महाकाव्य में भावों का उतार-चढाव जीवन की जटिलता के बीच से मार्ग खोजता हुआ स्थायी प्रभाव जमाता दीखता है। चिन्तन और भावावेश का समन्वय कला के विभिन्न रूपों के साथ सम्पन्न हुआ है।

'रूप' और 'अरूप'—बाह्य और अन्तर्जगत् की अनुभूतियाँ लाक्षणिकता और प्रतीक* के आवरण में व्यक्त हुई हैं। अरूप और अचे-

× "तारागण सहचन्द्र लसैं उज्ज्वल अम्बर में।
हीरन के ज्यों हार, निशारानी के गर में।"

* प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के कतिपय उदाहरण—(१) 'जीवन निशीथ के अंधकार' (कामायनी) मे 'अन्धकार' अत्यन्त निराशा का प्रतीक है।

तन पदार्थों में भी कवि ने 'चेतना' का आरोप किया है। उन्होंने अपने में और अपने से बाहर सभी में अपनी परछाईं देखी है। वे सब में समा जाने को व्याकुल रहे हैं। 'विभिन्नता' में एकता का अनुभव करना उनकी साधना रही है। परन्तु हम यह नहीं कहते कि कवि ने अपने को तटस्थ रख कर कभी कुछ नहीं कहा। वह केवल 'भाव ही भाव' नहीं रहे। चिन्तन और मनन के उद्गार भी उन्होंने प्रकट किए हैं। 'आँसू' मे कला का जो रूप दिखलाई देता है, उसमें पर्याप्त बौद्धिक तत्व है (जिसकी चर्चा आगे की गई है) पर बौद्धिक तत्व प्रधान होकर उनमें नही आता, इसी से उसकी स्थिति किसी रचना को 'दर्शन' नही बना देती। 'प्रसाद' का बौद्धिक तत्व काव्य की कला को सँवारने में यत्नशील होता है—उसकी आत्मा नही बन पाता। प्रसङ्गवश कहा जा सकता है कि आज का 'प्रगतिवादी' कवि इसी तत्व पर पनप रहा है। उसने विज्ञान की विश्लेषणात्मकता को इतना अधिक अपना लिया

---

(२) 'यौवन मधुवन की कालिंदी (कामायनी) में कालिंदी कामना की प्रतीक है।

(३) "झंझा झकोर गर्जन है; बिजली है, नीरदमाला" (आँसू) में झंझा झकोर गर्जव, हृदयको व्यथित करने वाली तीव्र भावनाओं; बिजली, हृदय में रह रह उठने वाला दर्द और नीरदमाला उदासी के प्रतीक है।

(४) "मुरली" मुखरित होती थी" (आँसू) में 'मुरली' भ्रमरों की गुंजार की प्रतीक है।

(५) "पतझड़ था, झाड़ खड़े थे, सूखे से, फुलवारी में।
किसलय दल कुसुम बिछा कर, आये तुम इस क्यारी में।" (आँसू)
में पतझड—शुष्कता; 'किसलय दल कुसुम' सरसता और क्यारी हृदय के प्रतीक हैं।

(६) "आँसू से घुला निखरता, यह रंग अनोखा कैसा ?" (आँसू) में रंग 'प्रेम' का प्रतीक है।

(७) "नाविक ! इस सूने तट पर किन लहरों में खे लाया।" (आँसू) में 'नाविक' मन और 'लहरों' भावनाओं के प्रतीक हैं।

मानवीकरण—"अम्बर पनघट में डुबो रही,
तारा घट ऊषा नागरी" (लहर)

है कि वही 'काव्य की आत्मा' बन गई। 'प्रसाद' में चूंकि बुद्धितत्व की अव-हेलना नहीं की गई है, इसलिए उनकी रचनाओं में अर्थ की अस्पष्टता अधिक नही पाई जाती। अस्पष्टता वहीं कष्टप्रद हो गई है, जहां 'बहुत दूर की कौड़ी' लाने की चेष्टा में असामान्य प्रतीकों का प्रयोग किया गया है जैसे- 'लहर' में एक स्थल पर दुःख पहुँचाने वाले व्यक्ति भी सहृदय बन गए— 'अश्रुपूर्ण हो गए' के लिए 'कांटों ने भी पहना मोती' कहा गया है। 'प्रसाद' अपनी रचनाओं को 'निरलंकृता' रखने के पक्षपाती नहीं रहे—अभिव्यक्ति को सँवारने में वे सदैव सचेष्ट रहे। उनके 'गीतों' की अभिव्यञ्जना अधिक मधुर है। उनमें शरत्-कालीन सरिता के समान कलकल ध्वनि से बीती बातें कहता हुआ' सा प्रवाह बहता है। नाटकों में कई सुन्दर गीतों की रचना हुई है, जो स्वतन्त्र भी गाये जा सकते हैं। उनमे जीवन का दार्शनिक तथ्य भी अन्तर्हित मिलता है। प्रेम और यौवन की मादकता से उनकी रचनाएँ सिहर-सी रही है। सच पूछा जाय तो वे यौवन और प्रेम के प्रमुख कवि हैं।

पाश्चात्य कवि दांते ने ब्यूट्रिस को एक बार देख लेने के बाद अपना सम्पूर्ण जीवन उसकी स्मृति में समर्पित कर दिया था। 'प्रसाद' की रचनाओं में जो प्रेमाभिलाष रह-रह कर छलक उठता है, उससे ऐसा प्रतीत होता है, कवि किसी अनन्त छवि-माधुरी की एक घूंट पीकर तृषित ही रह गये हैं। उस छवि ने उनके जीवन को अत्यधिक अभिभूत कर लिया और वे उसी की स्मृतिके स्वप्न-चित्रों को भिन्न भिन्न रंगों से सँवारते रहे। उनकी प्रत्येक कृति में वह मानों प्रेरक शक्ति बन कर बोलती है—

'आह वेदना मिली बिदाई' में प्रतीत होता है, कवि का जीवन सत्य ही उसासें भर रहा है। अपने 'स्वप्न' से बिछड़ जाने पर मनुष्य कितना असहाय

में 'ऊषा' को 'नागरी' का रूप दिया गया है, जो अत्यन्त सजीव है। झरना में भी 'ऊषा' को अवगुण्ठनवती स्त्री का रूप दिया गया है। "घूंघट खोल ऊषा ने झांका और फिर अरुण अपाङ्गों से देखा—कुछ हँस पडी। रजनी की रोई आँखें, आलोक-बिन्दु टपकातीं (आँसू) में रजनी में रमणी का आरोप है। कामायनी में चिन्ता, लज्जा, पवन आदि का मानवीकरण है। 'प्रसाद' की प्रत्येक कृति से ऐसे उदाहरण चुने जा सकते हैं। शब्द ध्वनि से अर्थ-व्यञ्जना—"झञ्जा, झकोर गर्जन है, बिजली है, नीरदमाला (आँसू) में भावनाओं का तूफान शब्दध्वनि से ही जोर मारता सुन पड़ता है।" "Words Echoing the sense" इसी को कहते हैं।

अनुभव करने लगता है, इसकी अभिव्यक्ति भी इन पंक्तियों मे कितनी अश्रुमय है—

चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर।
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर,
उससे हारी होड़ लगाई,

कवि ने अपनी साहित्य-साधना में 'सुन्दरम्' के चरणों पर ही अपनी भाव-सुमनाञ्जलि अर्पित की है। क्या भाषा, क्या भाव, क्या अभिव्यक्ति, क्या आलम्बन-सभी 'सौन्दर्य' की ओर अभिमुख है। प्रेम स्वयं सौन्दर्य है; उसका 'मिलन' सुन्दर है और विरह भी, क्योंकि दोनों में प्रेम का माधुर्य ही झरता है। 'प्रसाद' ने प्रेम की दोनों अवस्थाओं में रस की मंदाकिनी प्रवाहित की है पर 'विरह' में वे अपने को अधिक व्यक्त कर सके है। 'आँसू' में वे कहते भी है-"मेरा शृङ्गार चमकता, उनकी करुणा मिलने से।"

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'जायसी'-की भूमिका में लिखा है—"विरह की व्याकुलता और असह्य वेदना स्त्रियों के मत्थे अधिक मढ़ी गई है। प्रेम के वेग की मात्रा स्त्रियों में अधिक दिखाई गई है। नायक के दिन-दिन क्षीण होने विरह ताप में भस्म होने, सूख कर ठठरी होने के वर्णन में कवियों का जी उतना नहीं लगा है। बात यह है कि स्त्रियों की शृङ्गार चेष्टा-वर्णन करने में पुरुषों को जो आनन्द आता है, वह पुरुषों की दशा वर्णन करने में नहीं। इसी से स्त्रियों का विरह वर्णन हिन्दी काव्य का एक प्रधान अङ्ग ही बन गया।" पर छायावाद-युग में यह बात नहीं रही। उसमें तो 'पुरुष' ही कल्पित अकल्पित प्रेयसी के वियोग में सूख कर 'ठठरी होते रहे है।' 'प्रसाद' के प्रेम में अपने युग की पूर्ण छाप है। रीतिकालीन कवि जहाँ राधा-कृष्ण के माध्यम से अपनेको व्यक्त करते थे, वहां इस युग के कवि 'मै'-परक हो गये हैं। 'प्रसाद' के प्रेम मे खय्याम का नशा देखा जा सकता है। रवीन्द्र के प्रभाव की छाया 'झरना' में देखी जा सकती है। उसकी कई रचनायें गीतांजलि की प्रतिध्वनियाँ भी कही जा सकती है।

प्रेम-सौन्दर्य में मनुष्य की बाह्य और आभ्यन्तर आकृति जगमगा उठी लता, फूल, उषा, पर्वत आदि दृष्ट प्रकृति भी कवि के काव्य में मानव के आभ्यन्तर सौन्दर्य को सजाने को प्रस्तुत रहती है। उसकी अपनी पृथक् सत्ता प्रबल नहीं हो सकी। शुद्ध प्रकृति-वर्णन की न्यूनता से कवि के काव्य के उत्कर्ष में क्षीणता नही आजाती। इस सम्बन्ध में रवि बाबू के विचार मननीय हैं:—

"प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ मानव हृदय का एक नित्य मिश्रण है। उसमें जितनी प्रकृति की वस्तु है, उससे कहीं अधिक है मनुष्य का चित्त। इसीलिये प्राकृतिक सौन्दर्य मे मनुष्य अपने को अनुभव करता है।...... प्रकृति का ठीक स्वरूप क्या है, इसे जानने के लिए साहित्य के पास कोई साधन नहीं है। लेकिन प्रकृति मनुष्य के हृदय में और सुख दुःख के चारों ओर किस प्रकार प्रकाशित होती है, यही बात साहित्य दिखाता है।"

भाषा के सम्बन्ध में व्याकरण के 'नियमों' के पालन में उन्होंने आग्रह नही प्रदर्शित किया; वे लिङ्ग और वचन के प्रयोगों में विशेष सतर्क नहीं रहे। 'आँसू', 'लहर' और 'कामायनी' में भी उन्होंने 'नारी' को लिङ्गातीत बना दिया है—वह पुरुष बन कर उनके सामने हँसती है;* 'अलकों' में अपना मुँह छिपाती है और घूंघट डाल कर अञ्चल मे दीप छिपा 'अभिसार' भी करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यापति की 'राधा' के समान (अनुखन माधव माधव रट रट, राधा भेलि 'मधाई') वह भी दिन रात 'माधव-माधव' रट कर स्वयं 'माधव' बन जाती है। जो हो, यह प्रवृत्ति उन्होंने उर्दू-फारसी काव्य-साहित्य से ग्रहण की है। स्त्री-रूप का आकर्षण 'स्त्री' बोधक सम्बोधन से ही बढता है। पर यह प्रवृत्ति 'प्रसाद' तक ही 'सीमित' नहीं रही, वह अन्य छायावादी कवियों में भी फैली और यहाँ तक फैली कि उनके 'माधव' भी 'राधा' बन कर अपने केशों को सँवारने-सिंगारने लगे!

'वचनों' में भी 'प्रसाद' ने कवि-स्वच्छन्दता प्रदर्शित की है—इसका निर्देष उनके ग्रन्थों के सिंहावलोकन के समय यथाप्रसङ्ग कर दिया गया है। 'आँसू' में "छिटका कर दोनों छोरें' छोर का बहुवचन 'छोरे' कवि की स्वच्छन्दता है, तुक-पूर्ति है। उनके एक ही पद्य में एक ही व्यक्ति के सम्बोधन के दो-रूप भी मिल जाते हैं— 'तू और 'तुम' दोनों।

'किसी तरह से भूला भटका आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार।
डरो न इतना, धूल धूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार॥'

झरना

इस प्रकार का भाषा-शैथिल्य 'कामायनी' तक में मिलता है जो चिंतनीय है।

---

* शशिमुख पर घूंघट डाले अंचल में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में तुम कौतूहल से आये॥
(आँसू)

इतना सब कुछ होने पर भी उनकी भाषा में लालित्य है—कोमलता है; मधुमयी मोहकता है।

प्रारम्भिक रचनाओं में भाषा में सजावट के होते हुए भी 'प्रवाह' की कमी पाई जाती है जो 'आँसू' ही में बहुत कुछ दूर हो सकी है। 'कामायनी में तो कवि अपनी प्रतिभा का सम्पूर्ण प्रकाश दिखा कर स्वयं 'बुझ' गये हैं—अन्तर्धान हो गए हैं।

कवि की संग्रह-रूप प्रकाशित रचनाओं का क्रम इस प्रकार है—

(१) चित्राधार (२) कानन-कुसुम (३) करुणालय (४) महाराणा का महत्व (५) प्रेम-पथिक (६) झरना (७) आँसू (८) लहर और (९) कामायनी।

आगे के पृष्ठों में चित्राधार, कानन-कुसुम, करुणालय, प्रेम-पथिक, झरना, आँसू, लहर और कामायनी पर विवेचनात्मक दृष्टि डाली गई है, पर 'आँसू' पर विशेष रूप से।

---

[१] चित्राधार

'प्रसाद' ने जिस समय कविता लिखना प्रारम्भ किया था, ब्रजभाषा ही काव्य के लिए उपयुक्त भाषा समझी जाती थी। अतः बीस वर्ष की अवस्था तक कवि ब्रजभाषा में ही अपने उद्गारों को ढालते रहे पर जब स्व० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खड़ी बोली को काव्य का वाहन बनाने का सक्रिय आन्दोलन उठाया तो 'प्रसाद' भी समय की गति के साथ इतनी शीघ्रता से बढ़े कि उन्होंने खड़ी बोली में नवीन रचनाएँ तो लिखी ही, 'प्रेम-पथिक' को भी जो संवत् १९६२ में ब्रजभाषा में लिखा जा चुका था, संवत् १९७० में खड़ी बोली में उतार लिया। समय उन्हें पीछे न छोड़ दे, इसकी चिन्ता उन्हें खूब थी।

हाँ—तो, 'चित्राधार' मे उनकी बीस वर्ष की अवस्था तक की प्रायः सभी कृतियाँ संग्रहीत हैं। सभी कृतियों में गद्य-पद्य दोनों सम्मिलित हैं। पहिले खण्ड में उर्वशी, बभ्रु वाहन, अयोध्या का उद्धार, वन-मिलन और प्रेम-राज्य शीर्षक कृतियाँ है। इस खण्ड की अन्तिम तीन रचनाएँ विशुद्ध पद्यमय और प्रथम दोनों गद्य-पद्य का सङ्कर हैं; जिनमें कथोपकथन और गाने की योजना होने से नाट्यछटा का

आभास मिलता है। दोनों की भाषा अलंकृत पर माधुर्यपूर्ण है। इससे प्रकट होता है, भाषा को सँवारने की रुचि 'प्रसाद' में प्रारम्भ ही से रही है। 'उर्वशी' में एक वाक्य है—"मनोहर गुफा, पहाड़ी मे प्रेमी की तरह हृदय खोले बैठी है", इसमें 'जड़' का मानवीकरण कितना चित्रदर्शी है! यत्र-तत्र भाषा में व्याकरण की दृष्टि से 'सफाई' नही पाई जाती * पर पूरी रचना का समन्वित प्रभाव माधुर्य की ही सृष्टि करता है।

'चित्राधार' का दूसरा खण्ड 'नाट्य का है।

इसमें दो नाटक संग्रहीत है। प्रायश्चित्त और सज्जन। रचनाकाल की दृष्टि से 'सज्जन' 'प्रायश्चित्त' के पूर्व की कृति है। दोनों 'एकाङ्की नाटक' कहे जा सकते हैं। 'सज्जन' का रचना-तंत्र (टेकनिक) संस्कृत नाटकों पर आधारित है। 'नान्दी'-पंक्तियों के साथ 'सूत्रधार' का प्रवेश होता है, और 'नटी' के सम्भाषण के पश्चात् प्रथम दृश्य आँखों के सामने खुलता है। नायक की मनोभावनाओं को गुदगुदाने के लिए 'विदूषक' भी मुँह बनाता है। पद्यों की भरमार है और भरत-वाक्य का अर्थ व्यञ्जित करनेवाली पंक्तियों सहित उपसंहार भी। पर प्रायश्चित्त' में यही सब कुछ नही है। उसमें देशभक्ति-भावना की सामयिक लहर भी है।

तीसरा खण्ड 'कथा और प्रबन्ध' का है। इसमें दो कथाएँ और तीन निबन्ध हैं। ब्रह्मर्षि और पञ्चायत शीर्षक कथाएँ पौराणिक है और प्रकृति-सौन्दर्य तथा सरोज शीर्षक निबन्ध भावना प्रधान है, जो काव्यमयी शैली में लिखे गये है। पर तीसरा निबन्ध 'भक्ति' पर है जो भावनात्मक और विचारात्मक दोनों है। इसमें लेखक ने 'श्रद्धा', 'भक्ति' तथा 'प्रेम' का मनोवैज्ञानिक अन्तर स्पष्ट नहीं किया। बाद में यह काम स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल ने किया।

चौथा खण्ड 'पराग' है, जिसमें मुक्तक कविताओं के मधुर कण झर रहे हैं पर वे प्रायः प्रकृति के उद्यान ही से सञ्चित किए गए हैं। 'पराग' में यद्यपि 'प्रकृति' आलम्बन के रूप में दिखलाई देती है, पर कवि की आँखें और उनका मन उसी पर जाकर रम नही रहे। उसमें उन्होंने

*"अकस्मात् एक मनुष्य उसी द्वार से बाहर हुआ और एक अपरिचित मनुष्य को देख कर पूछा।"

बभ्रुवाहन पृ० १२

'अन्योक्तियाँ भी कही है और कही नर-सृष्टि का आरोप कर केलिकलाप के चित्र भी खीचे है ।

'विनय' और 'विभो में'

"संसार को सदय पालत जौन स्वामी ।
वा शक्तिमान परमेश्वर को नमामी ॥"

और— "है आत्म चित्त महँ होय निवास तेरो !
होवै निवास मह देव ! प्रकाश तेरो ॥"

के समान इतिवृत्तात्मक विचार प्रदर्शित है जो तत्कालीन काव्य-युग की छाया है ।

'बिदाई' मे सरस उक्तियाँ भी है ।

"प्रिय जबहीं तुम जाहुगे, कछुक यहाँ ते दूरि,
आँखिन में भरि जायगी, तव चरनन की धूरि ।
तुम अपनी ही मूर्ति को, मलिन करहुगे फेरि ।
इन पुतरिन पै आपने चरनन के रज गेरि ॥
निठुर, हृदय तुम ले चले, इन आँसू के धार ।
तेरे पथ को सींचिहैं, रखिहैं नाहि सँवार ॥
. . . .
जाहु, हमारे आह ये, रच्छक तुम्हरे पास ।
जो, ले ऐहै खींचि पुनि, तुमको हमरे पास ।"

'चन्द्रोदय' में उत्प्रेक्षा और सन्देह अलङ्कारों की चकाचौंध है । शुद्ध-प्रकृति-वर्णन बहुत कम स्थलों पर मिलता है ।

अन्तिम भाग—'मकरन्द-विन्दु'; भक्ति रस की फुहार बरसा रहा है । इसमें कवित्त और पद तथा कहीं कहीं सवैया का प्रयोग है ।

'ऐसो ब्रह्म लेइ का करिहै ?' में 'सूर' और 'नन्ददास' की गोपियों की सगुण भावना भँवरगीत-पद्धति पर प्रकट की गई है ।

तातो-तातो कढ़ि रूखे मन को हरित करै ।
ऐ रे मेरे आँसू ! तैं विश्व तैं सरस है ।

की अनुभूति 'प्रसाद' को यौवन के प्रथम प्रहर में कसक उठी थी, जो आजीवन उनमें दर्द और सिहरन भरती रही ।

चित्राधार में कवि का 'किशोर' जीवन की प्रत्येक दिशा में झाँक रहा है और भावी प्रौढ़ अभिव्यक्तियों को आश्वासन दे रहा है ।

(१) कानन-कुसुम

कवि की संवत् १९६९ के पूर्व की रचनाओं का संग्रह 'कानन-कुसुम' के नाम से पहिली बार प्रकाशित हुआ। दूसरा संस्करण संवत् १९७५ और तीसरा संवत् १९८६ में छपा। हर संस्करण के समय सग्रह में परिवर्तन और परिवर्धन होता रहा। हमारे सामने उसका तृतीय संस्करण है। अपनी इन रचनाओं के सम्बन्ध में कवि ने कहा है—'इसमें रंगीन और सादे, सुगन्धवाले और निर्गन्ध, मकरन्द से भरे हुए, पराग में लिपटे हुए, सभी तरह के कुसुम असंयत भाव से एकत्र किए गए हैं।' कवि का इन पंक्तियों में विनय सत्य के साथ बोल रहा है। चूँकि इस संस्करण की रचनाएँ कवि द्वारा संशोधित, सवर्द्धित और परिवर्तित रूप में प्रकाशित हैं, अतः जो कवि की प्रतिभा के क्रम-विकास का अध्ययन करना चाहेंगे, उन्हे भ्रान्ति ही होगी। इस संग्रह में वे कवि को १९८६ की विकास-दशा में पायेंगे। संग्रह में बाह्य-वृत्ति-निरूपक रचनाओं का ही आधिक्य होने पर भी कवि के हृदय का रुदन और उसकी रुझानका आभास मिल ही जाता है। 'प्रथम प्रभात' में कवि अचानक किसी सौरभ भारवाही मलयानिल के कर-स्पर्श की गुदगुदी से जाग उठते हैं। इस 'स्पर्श' ने कवि के जीवन में 'प्रथम प्रभात' का उदय कर उनमें

आजीवन रस की प्यास भर दी ! प्रतीत होता है, उसके 'प्रिय–मिलन' की घड़ियों की सख्या बहुत थोड़ी रही है । तभी उनकी मर्म व्यथा फूट पड़ी है ।

" प्रियतम ! वे सब भाव तुम्हारे क्या हुए ?
प्रेम कंज-किञ्जल्क शुष्क कैसे हुए ?
हम ! तुम ! इतना अन्तर क्यों कैसे हुआ ?
हा-हा प्राण-अधार शत्रु कैसे हुआ ? "

प्रतीत होता है कि लोक-प्रमाद से 'प्रिय' मिलन-कुञ्ज की छाया नहीं छू रहा है । निम्न पंक्तियाँ इसी को व्यक्त करती है—

" रूखे ही तुम रहो, वूंद रस के झरें !
हम-तुम जब एक हैं लोग बकते फिरें ! "

'आँसू' में भी यही उलाहना है—

'किञ्जल्क जाल हैं बिखरे,
उड़ता पराग है रूखा,
है स्नेह सरोज हमारा,
विकसा मानस में सूखा । "

प्रकृति का वर्णन यत्र-तत्र प्रकृति को आलम्बन मान कर किया गया है । 'ग्रीष्म का मध्याह्न' मे ग्रीष्म की भीषणता चित्र-लिखित सी प्रतीत होती है । 'गङ्गासागर' में कवि उस 'सागर' के मिलन की कामना व्यक्त करता है, जो अगाध है, अदृष्ट है और है सृष्टि का आदि स्रोत । 'आँसू' के पश्चात् प्रकाशित 'लहर' में भी 'हे सागर संगम अरुण नील' को लक्ष्य कर यही भावना रहस्यमयी अनुभूति के साथ मुखर हो उठी है । 'हिमशैलबालिका' का सागर की ओर अनजान आकर्षण से खिंच कर बहना और सागर का अपनी नियत अवधि को तज लहरों के हाथों से उसका स्वागत करना, दोनों के आदि-ऐक्य का द्योतक है ।

इस प्रकार कवि अपनी भावनाओं में समय-समय पर एक ही रस भर उन्हें विभिन्न रूपों में उड़ेला करते हैं । इससे उनकी अन्तर्धारा के दिशैक्य का स्पष्ट बोध हो जाता है ।

'कानन-कुसुम' की रचनाओं की विविधता 'महाकवि तुलसीदास' 'धर्मनीति', 'चित्रकूट', 'भरत', 'शिल्प', 'सौन्दर्य' 'श्रीकृष्ण जयन्ती' आदि तक बिखरी हुई है ।

'कानन' के 'कुसुम' निर्गन्ध नहीं हैं, पर वे सौरभ के भार को वहन भी नहीं कर रहे हैं ।

(३) करुणालय

यह प्रसाद का प्रथम और अन्तिम भाव-नाट्य है। यद्यपि उसे इन्दु-कला में प्रकाशित सूचना में "गीति-नाट्य पर लिखा गया दृश्य काव्य कहा गया है, पर हम इसे गीति-नाट्य इसलिए नहीं कहते कि इसमें गीतात्मकता का प्राबल्य नहीं है—तुकान्त हीन मात्रिक छन्द में वाक्यानुसार विराम चिह्न दिया गया है। तुकान्तविहीन छन्दों में भी गीतात्मकता आ सकती हैं परन्तु इसमें कई स्थल ऐसे हैं, जो केवल गति-हीन गद्य ही रह गये हैं—कथा के अंश को जोड़नेवाले। इसके पूर्व स्व० पण्डित अम्बिकादत्त व्यास और स्व० पं० श्रीधर पाठक ने अतुकान्त रचना की थी, परन्तु उसे भावनाट्य का रूप 'प्रसाद' ने ही दिया। 'प्रसाद' के बाद पण्डित उदयशंकर भट्ट ने भावनाट्य की सफल रचनाएँ की हैं। जिनमें मत्स्यगन्धा, विश्वामित्र और राधा उल्लेखनीय हैं। ये वास्तव में भावनाट्य हैं। इनमें भावावेग के साथ ही कथा की गति बढ़ती है और नाट्य-छटा का दृश्य भी खिंच आता है।

'करुणालय' में नौ पुरुष पात्र और दो स्त्री पात्र हैं। पात्रों की संख्या की अधिकता, जो प्रसाद के नाटकों मे पाई जाती है, उसका सूत्र-पात इस छोटे से नाटक में ही हो जाता है।

इसका कथानक इस प्रकार है—

एक समय अयोध्या के महाराज हरिश्चन्द्र सूर्यास्त के समय सरयू में सहचरों सहित नाव पर जल-विहार कर रहे थे। सहसा नाव स्तब्ध हो जाती है और नेपथ्य में गर्जन सुन पड़ता है:—

"मिथ्याभाषी यह राजा पाखण्डी है,
इसने सुतबलि देना निश्चित था किया।
राजकुमार हुआ है अब बलि-योग जब,
तो फिर क्यों उसकी बलि यह करता नहीं?
उसका है यह दण्ड, आह! हतभाग्य यह
जा सकता है नहीं कहीं भी नाव से"।

हरिश्चन्द्र जब अज्ञात देव को अविलम्ब पुत्रबलि देने का आश्वासन देते है तब नौका चलने लगती है। वे अपने पुत्र रोहिताश्व को बलि चढने की आज्ञा देते हैं, पर रोहिताश्व उनकी आज्ञा भङ्ग कर जङ्गल में चला जाता है, जहाँ उसे अजीगर्त, तारिणी और उसके तीन पुत्र क्षुधार्त मिलते हैं। रोहिताश्व अजीगर्त से सौ गायों के मूल्य में उसका कथित पुत्र शुनःशेफ बलि के लिए खरीद लाता है और राजा के सम्मुख उपस्थित होता है। पहले तो हरिश्चन्द्र पुत्र से आज्ञा-भङ्ग के कारण रुष्ट होते है, पर वशिष्ठ मुनिके समझाने-बुझाने पर शुनःशेफ को बलि पर चढाने की तैयारी की जाती है। बद्ध शुनःशेफ का अन्त करने को बधिक का अस्त्र भी नहीं उठता—उसका जी रह-रह कर बैठने लगता है। इसी समय अजीगर्त पहुँच जाता है और कहता है कि "यदि सौ गाएँ और दो तो मै कर दूँगा काम आपका शीघ्र ही"। शुनःशेफ आकाश की ओर देख कर परमात्मा से प्रार्थना करता है—

"हाय! तुम्हारी करुणा को भी क्या हुआ,
जो न दिखाती स्नेह पिता का पुत्र से।"

उसी समय आकाश गरज उठता है। विश्वामित्र अपने सौ पुत्रों सहित वहाँ प्रगट हो जाते है और नरबलि की भर्त्सना कर शुनःशेफ को बचा लेते हैं। वहीं उन्हें ज्ञात होता है कि शुनःशेफ उन्ही का पुत्र है, जिसे उसकी दासी माँ ने लोकविरुद्ध आचरण के कारण अजीगर्त के आश्रम में प्रसव कर छोड़ दिया था।

करुणालय में धर्म के नाम पर होने वाले पाशविक अत्याचारों की कटु आलोचना मिलती है। 'प्रसाद' पर बौद्धधर्म की (अहिंसावाद की) कितनी गहरी छाप थी, उसकी झाँकी इस प्रारम्भिक कृति मे मिल जाती है। वे कहते हैं—"अपनी आवश्यकता का अनुचर बन गया, रे मनुष्य! तू कितने नीचे गिर गया, आज प्रलोभन-भय तुझसे करवा रहे कैसे आसुर कर्म्म! अरे तू क्षुद्र है—और धर्म की छाप लगा कर—मूढ़ तू! फँसा आसुरी माया में, हिंसा जगी।" जगत् गतिशील है अगति को यहाँ कोई स्थान नहीं। इसीलिए वे कहते है—

'चलो पवन की तरह, रुकावट है कहाँ,
बैठोगे, तो कहीं एक पग भी नहीं
स्थान मिलेगा तुम्हें, कुटिल संसार में।
इच्छित फल की चाह दिलाती बल तुम्हें,
सारे श्रम उसको फूलों के हार से
लगते हैं, जो पाता ईप्सित वस्तु को।

इस तरह हमें 'करुणालय में मानवता का स्वर—क्षमा, दया और परोपकार आदि—'बहुत स्पष्टता से सुन पड़ता है। आगे चल कर 'आँसू में भी कवि की करुणा वञ्चित, भूखे और निराश नयनों के प्रति जागृत हुई है—

"फिर उन निराश नयनों की,
जिनके आँसू सूखे हैं
इस प्रलय दशा को देखा
जो चिर वंचित भूखे हैं।"

—

(४) प्रेम-पथिक

यह करुणालय के समान अतुकान्त रचना है, पर भाव नाट्य नहीं है, कथा-काव्य है। 'प्रसाद' ने पहिले इसे व्रजभाषा में सं० १९६२ में लिखा था। आठ साल बाद आपन इसे खड़ी बोली में परिवर्तित और परिवर्धित कर पुनः प्रकाशित किया। काव्य की कथा इस प्रकार है। आनन्द नगर में दो पड़ोसी मित्र रहते थे। एक की कन्या से दूसरे मित्र के पुत्र का परम स्नेह था। वे दोनों नित्य परस्पर नदी-कूल कुसुमकुञ्ज में खेला करते, उन्हें देख कर ऐसा प्रतीत होता था, मानों दो फूल एक ही डाल में खिले हों। बहुत काल तक दोनों इसी तरह आमोद-प्रमोद में पनपते गए। लड़के के पिता ने मरने से पूर्व उसे अपने मित्र को सौंप दिया। तब दोनों प्रेमी साथ-साथ एक ही गृह में रहने लगे। अब वे दो शरीर एक प्राण बन गए। सहसा लड़की के पिता ने उसका किसी अन्य युवक से विवाह कर दिया। प्रेमी युवक यह आघात न सह सका; घर से निकल गया। वर्षों भटकता रहा। एक दिन वह थक कर एक कुटी में पहुँचा जहाँ एक तापसी रहती थी। रात को उसने तापसी से जब अपना जीवन-वृत्त कहा तो वह चौंक पड़ी, क्योंकि वह वही लड़की थी जिसके साथ वह बचपन में खेला, हँसा और अनुरक्त हुआ था। तापसी ने भी अपने वैवाहिक जीवन के कष्ट आदि कहे और अन्त में दोनों एक होकर अपने जीवन का अरुणोदय देखने लगे।

प्रेम-पथिक की यह कथा गोल्ड स्मिथ के 'हरमिट' से मिलती जुलती है। परन्तु प्रेम का जो आदर्शमय उज्ज्वल रूप 'प्रसाद' ने प्रस्तुत किया है, वह 'हरमिट' मे नही दिखाई देता। 'प्रसाद' कहते है—

"इस पथ का उद्देश्य नहीं है, श्रांत भवन में टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं।"

प्रेम की आग इस जीवन मे ही नही बुझ जाती; वह सब काल, जन्म जन्मान्तर तक सुलगती रहती है। उसका ध्येय अपने अस्तित्व को मिटा देने में है। और—

"प्रियतम मय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ
फिर तो वही रहा मन में, नयनों में, प्रत्युत जगभर में।
कहाँ रहा तब द्वेष किसी से, क्योंकि विश्व ही प्रियतम है।"

इन पंक्तियों में प्रेम के व्यावहारिक—लौकिक रूप को सर्वथा विस्मृत कर उसे अलौकिकता के शिखर पर आसीन कर दिया गया है। जगत के कण-कण में प्रिय का कम्पन अनुभव करना सचमुच उच्च साधना है, कष्ट कल्पना है।

तभी वे कहते है—

'पथिक! प्रेमकी राह अनोखी भूल-भूल कर चलना है।
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए।
प्रेम-यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा।
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-विहारी होने का फल पाओगे।

मित्रता के विषय में कवि की धारणा है कि जिसे हम मित्रता समझते हैं, वह केवल शिष्टाचार रहता है। मुँह देखने पर ही मित्र की बातों में मिठास रहती है। वे कहते है—

"कहीं तुम्हारा स्वार्थ लगा है, कहीं 'लोभ' है मित्र बना
कहीं 'प्रतिष्ठा', कहीं 'रूप' है, मित्र-रूप में रँगा हुआ
हृदय खोलकर मिलनेवाले बड़े भाग्य से मिलते है।"

'प्रसाद' नियतिवादी है। वे भाग्य को मानव-व्यापारों का संचालक मानते हैं। प्रेमपथिक में उनका यह विश्वास निम्न पक्तियों से उच्छवसित हो रहा है—

"लीलामय की अद्भुत लीला किससे जानी जाती है,
कौन उठा सकता है धुँधला पट भविष्य का जीवन में।
जिस मन्दिर में देख रहे हो जलता रहता है कर्पूर,
कौन बना सकता है उसमें तेल न जलने पावेगा।
यह भी नहीं जानता कोई वही महल, आशामय के
विशद कल्पना-मन्दिर सा कब चूर चूर हो जायेगा।
कुटिल काल के किस प्रभाव से फिर क्या क्या बन जावेगा।"

नियतिवादी अदृष्ट शक्ति के प्रत्येक कार्य मे समष्टि का शिव देखता है, उसके प्रति अटट आस्था रखता है।

"दु:ख देख कर अपना ही—

मत समझो सब दुखी जगत को, मत लांछन दो ईश्वर को।
शिव समष्टि का होता इच्छा उसकी पूरी होती है।"

........प्रेम पथिक मे वर्णनात्मक और उपदेशात्मक अंश अधिक है। इसमें स्वभावत: काव्य की बाह्यात्मकता अधिक है। पथिक और तापसी की आँखों में आँसू देख कवि कहते है—

"नीलोत्पल के बीच सजाए मोती-से आँसू के बूँद,
हृदय-सुधानिधि से निकले हो सब न तुम्हें पहिचान सकें।
प्रेमी के सर्वस्व अश्रुजल चिर दु:खी के परम उपाय,
यह भव-धरा तुम्हीं से सिञ्चित होकर हरी-भरी रहती
उन हृदयों को शीतल कर दो परितापित हैं दु:ख से।"

'आँसू' नामक काव्य में भी कवि ने यह कामना की है कि आँसू 'बहुजन हिताय' ही बरसें, अपने दु.ख से दु:खी रहने की अपेक्षा लोक-दु:ख को अपना दु:ख बना कर उसमें सहानुभूति प्रदर्शित करना ही सच्ची भावुकता है।

'प्रसाद' ने प्रेमपथिक को अलङ्कारों की विविधता से बोझिल नहीं बनाया। उन्होंने यत्र तत्र कुछ उपमाएँ ऐसी अवश्य प्रस्तुत की हैं, जिनमें आधुनिकता की छाया है। जब से हिन्दी साहित्य में क्रोसे के अभिव्यञ्जनावाद की धूम मची है, कवि पुराने अलङ्कारों से मुक्त हो नये-नये रूप-विधानों से अपने को व्यक्त करने लगे हैं।

आजकल उपमा के दो प्रकार अधिक प्रचलित है, एक में स्थूल वस्तु की सूक्ष्म से और दूसरे में सूक्ष्म वस्तु की स्थूल से उपमा देते हैं। दूसरे प्रकार की उपमा के उदाहरण कम मिलते हे। प्रेम-पथिक मे पहले प्रकार की उपमा निम्न पंक्तियों में मिलती है—

"सच्चा मित्र कहाँ मिलता है ? दुखी हृदय की छाया-सा।"

दूसरे प्रकार की उपमा 'हिमालय-सा भी जिसका हृदय रहे' में मिलती है। अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यन्जना निम्न पंक्तियों में कितनी सुन्दर है—

"चिढ़ जाता था वसन्त का कोकिल भी सुन कर वह बोली,
सिहर उठा करता था मलयज इन श्वासों के सौरभ से।"

पथिक की प्रेमिका की बोली के सामने वसन्त का कोकिल लजा जाता था और उसकी श्वासों से निकलने वाली सुरभि के आगे मलयज की गन्ध निर्गन्ध बन जाती थी। कवियों ने प्राय: मादा कोयल की कूक को ही अपनाया है, पर पक्षी-विज्ञानी कहते है कि जो कूक हम सुनते हैं वह मादा की नहीं नर-कोकिल की होती है। 'प्रसाद' को यह तथ्य अवगत था।

कण्व ऋषि के आश्रम की शकुन्तला के समान 'प्रसाद' का पथिक भी अपने नगर को छोड़ते समय वहाँ के परिचित वृक्षों से विदा लेता है।

"हृदय हुआ था विकसित जिन वृक्षों को कुसुमित देख नितान्त
उनसे भी आलिङ्गन करके किया प्रणाम बिदाई का।"

प्रेम-पथिक सचमुच उदात्त और कोमल विचारों का लघु काव्य है, जिसमें 'प्रसाद' का भावी सुन्दर कवि मुस्कुरा रहा है।

---

(९) झरना

कवि की संवत् १९७१ से १९७८ तक की रचनाओं के संकलन का नाम 'झरना' है। रचना-क्रम से यह 'आँसू' के पूर्व की सृष्टि है। श्री रामनाथ 'सुमन' का कहना है 'इसमें जीवन की विविधता तो है, परन्तु एकीकरण और सामञ्जस्य नही।' पता नही 'एकीकरण और सामञ्जस्य' से उनका क्या आशय है ? बिखरी रचनाओं के संग्रह में 'एकीकरण और सामञ्जस्य' तभी मिल सकता है जब कवि जीवन की साधना विशेष की ओर ही उन्मुख हो और उसकी सारी भावनाएँ विविध रूपों में उसी की ओर केन्द्रित हों। 'झरना' में एकीकरण अवश्य है और वह है किसी के प्रति आग्रह, विवशता और जिज्ञासा का। 'अपने को खो देने' की भावना का स्वर कई आवरणों के बीच से भी सुन पड़ता है। सौदर्य की प्यास किसी 'झरने' की टोह में व्याकुल है। कवि को 'जलन' से बड़ी आसक्ति है। वे कहते हैं—

"विश्व में ऐसा शीतल खेल,
हृदय में जलन रहे, क्या बात !
स्नेह से जलती ज्वाला झेल,
बनाली हाँ, होली की रात।

यह जलन-कामना 'आँसू' में भी 'कल्याणी शीतल ज्वाला' के रूप में बोल रही है। कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं से सम्बन्ध है वहाँ कवि 'झरने' में भी असामञ्जस्य दोष से मुक्त है। वे अपनी इस मानसिक प्रवृत्ति की 'झरना' में हर स्थल पर कलापूर्ण अभिव्यक्ति नहीं दे पाए, यह बात दूसरी है। उनका स्वर भाषा के आडम्बर से बोझिल नहीं हो पाया—वह बहुत ही स्पष्ट है। एकान्त है, जहाँ 'दो' की साँसें ही बह रही है। वहाँ मन का उद्दाम वेग फूट पड़ा—

"निभृत था—पर हम दोनों थे,
वृत्तियाँ रह न सकीं फिर दान्त।
कहा जब व्याकुल हो उनसे—
'मिलेगा कब ऐसा एकान्त ?'
हाथ में हाथ लिया मैंने,
हुए वे सहसा शिथिल नितान्त।
मलय ताड़ित किसलय कोमल,
हिल उठी, उँगली, देखा; भ्रान्त।"

और भी— "किसी पर मरना यही तो दुख है!
'उपेक्षा करना' मुझे भी सुख है।"

कहीं-कहीं तो इतनी अधिक प्रासादिकता है कि वही उसका 'दोष' बन गई है—

"जलन छाती की बड़ी सहता हूँ,
मिलो मत मुझसे यहां कहता हूँ;
बड़ी हो दया तुम्हारी।
तुम रहो शीतल हमें जलने दो,
तमाशा देखो हाथ मलने दो;
तुम्हें है शपथ हमारी।"

जहाँ 'झरना' में साधारण कोटि की मद्यात्मक रचनाओं का आधिक्य है, वहाँ जलद गम्भीर, रस वर्षी गीतों का कल-निनाद भी है। प्रथम रचना 'झरना' ही हममें कुतूहल भर देती है—'तव अपाङ्ग की धारा' से तन-मन भीग उठता है। इसमें हर्षोन्माद झर-झर बहता हुआ मानों आँखों में छा रहा हो।

अदृष्ट वस्तु की स्मृति रहस्यवाद की प्रथम प्रेरणा है जो इस रचना की कतिपय पंक्तियों में प्रतिध्वनित सी जान पड़ती है।

सन्त-वाणी में इसे 'सुरति' कहते हैं।

'अव्यवस्थित' में मन की चञ्चलावस्था का अच्छा चित्रण है—

" विश्व के नीरव निर्जन में।
जब करता हूँ बेकल, चंचल,
मानस को कुछ शान्त,
होती है कुछ ऐसा हलचल,
हो जाता है भ्रान्त;
भटकता है भ्रम के वन में;
विश्व के कुसुमित कानन में।"

मैथिलीशरण ने भी 'पञ्चवटी' में इसी भाव की, एकान्त होने पर भी 'जन मन मौन नहीं रहता' कह कर साक्षी भरी है।

मन के चांचल्य का वर्णन भी कितना यथार्थ है—

" जब करता हूँ कभी प्रार्थना,
कर सङ्कलित विचार,
तभी कामना के नूपुर की,
हो जाती झनकार।"

'बालू की बेला' में 'प्रिय' के आँख चुरा कर ओझल हो जाने के निठुर व्यापार पर करुण खीझ में कितना आग्रह है—

"आँख बचा कर न किरकिरा कर दो इस जीवन का मेला।
कहाँ मिलोगे? किसी विजन मे? न हो भीड़ का जब रेला॥
कहते हो 'कुछ दुःख नहीं', हाँ ठीक, हँसी से पूछो तुम।
प्रश्न करो टेढ़ी चितवन से, किस किस-को किसने झेला?"

अन्तिम मनुहार आँसुओं से सिक्त है—

"निठुर इन्हीं चरणों में मैं रत्नाकर हृदय उलीच रहा।
पुलकित, प्लावित रहो, बनो मत सूखी बालू की बेला।"

('बालू की बेला' से लक्ष्य 'शुष्क' की ओर है।)

'कब' की जिज्ञासा में 'उसके' अभाव से हृदय की शुष्कता में प्रेम-जलद घनमाला की बूंदों का अधीर आह्वान है—

" लम्बी विश्व कथा में सुख निद्रा समान इन आँखों में—
सरस मधुर छबि शान्त तुम्हारी कब आकर बस जावेगी?"

जिस समय 'झरना' का स्रोत बह रहा था, कवि रवीन्द्र की गीताञ्जलि के रस में भी भीग रहा था। उत्कण्ठा, प्यास, उपालम्भ आदि की मींड़ों के अतिरिक्त 'झरना' में 'प्रकृति' के भी चित्र हैं, पर उनमें कवि के हृदय में लहराने वाले मदिर-भाव ही छलक पड़े हैं। 'पावस-प्रभात' की बीती रात मयख़ाने की महफ़िल का विलास लिए है और प्रभात उषा के घूँघट से बिखरने वाले अपाङ्गों से रक्तवर्ण हो गया है। वसन्त की प्रतीक्षा में कवि अपनी आँखों के 'वसन्त' दर्शन की कामना समेटे हुए व्यस्त है।

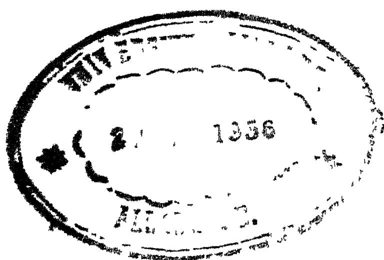
"झरने" को

" किसी हृदय का यह विषाद है,
छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ,
करुणा का विश्रान्त चरण है॥ "

कह कर कवि ने अपने में ही प्रवाहित होने वाले स्रोत का आरोप कर उसे सप्राण बना दिया है।

कला की दृष्टि से 'झरना' में छन्दों के विभिन्न प्रयोग हैं। प्रचलित छन्दों के अतिरिक्त कवित्त है, पद है और अतुकान्त रचना भी। 'झरना' में कवि अपनी भावनाओं को दृढ़ता से मुखरित कर सके हैं। 'स्वप्नों' को 'कला के कमनीय आवरण में छिपाने की कला में वे सफल नहीं हो पाये। यह बात इसके पश्चात् प्रकाशित होने वाले 'आँसू' में खूब सध सकी है।

———



[६] आँसू

'प्रसाद' हिंदी के भावुक कवि और कुशल कलाकार हैं। इसे कोई यदि उनकी एक ही रचना में देखना चाहे, तो उसे 'आँसू' की ओर ही इङ्गित किया जा सकता है! 'आँसू' की ओर सहसा आकर्षण के दौड़ने के दो ही कारण हैं—एक तो, उसमें प्रेम की स्मृति इतनी सत्यता के साथ अभिव्यक्त हुई है कि हमारा कवि के साथ अविलम्ब साधारणीकरण हो जाता है—हम कवि की स्मृति के साथ अपनी सोई हुई वेदना को अपनी ही आँखों में छाई हुई पाते हैं, जो उनके आँसुओं के साथ ही बहने लगती हैं। दूसरा गुण है, उसकी अभिव्यञ्जना-प्रणाली। यद्यपि 'बिहारी' के दोहों में 'गागर' में 'सागर' लहर चुका था, पर 'प्रसाद' ने 'सागर' को इतना प्रच्छन्न रखा है कि वह हर पात्र में समा कर भी अपनी असीमता कायम रखता है। उसमें इतनी व्यापक अभिव्यक्ति है। तभी स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है, ('आँसू' में), "अभिव्यञ्जना की प्रगल्भता और विचित्रता के भीतर प्रेम वेदना की दिव्य विभूति का, विश्व के मङ्गलमय प्रभाव का, सुख और दुःख दोनों को अपनाने की उसकी अपार शक्ति का और उसकी छाया में सौन्दर्य और मङ्गल के सङ्गम का भी आभास पाया जाता है।"

श्री इलाचन्द्र जोशी के शब्दों में 'प्रसाद' जी की आँसुओं की पंक्तियों ने हिन्दी-जगत् को प्रथम बार उस वेदनावाद की मादकता से विभोर किया, जिससे बाद में सारा छायावादी युग मतवाला हो उठा था। वेदना की भयङ्कर बाढ में सारे युग को परिप्लावित कर देने की जैसी क्षमता 'प्रसाद'जी के इन आँसुओं में रही है वह हमारे साहित्य के इतिहास में वास्तव में अतुलनीय है।"

हम तो यहाँ तक कहेंगे कि यदि 'आँसू' का प्रकाशन न होता तो 'छायावाद' की भूमि ही अनिर्दिष्ट रह जाती; अन्तर्भावनाओं की—उन भावनाओं की जो यौवन को झकझोरा करती है—अभिव्यक्ति स्पष्ट न हो पाती। यह छायावाद—युग की प्रतिनिधि—रचना है। "कामायनी" में काव्य दार्शनिकता का स्पष्ट आवरण भी ओढे हुए है। "आँसू" की दार्शनिकता प्रासङ्गिक है और वह वहीं ऊपर उठती है, जब हम 'आँसुओं' का अन्तिम ढरना देखते हैं—कवि उन्हें व्यापक बनाने के लिये अपनी ही व्यथा के आघात तक अपने को सीमित न रख कर विश्वपीडा के साथ समरस होना चाहते हैं। यों तो प्रारम्भ के आधे से अधिक छन्दों में हम केवल काव्य और कला का ही सौन्दर्य देखते हैं और मुग्ध हो उठने है। हम उन्हीं की 'ध्वनि' को मानो अपने में ही सुनने लगते है—कवि, तुम अपने ज़रा से पात्र में इतना रस कहाँ से भर लाए जो बरबस समा नहीं रहा है—हम चकित है, समझ नहीं पाते—ऐसा मधुवन तुम में कहाँ छिपा था?

आचार्यो ने कविता के तीन पक्ष माने हैं। वे है—(१) भाव-पक्ष (२) विभाव-पक्ष और (३) कला-पक्ष। भाव-पक्ष से कवि का हृदय उद्वेलित होता है, विभाव-पक्ष हृदय के उद्वेलन का कारण है और कला-पक्ष भाव-पक्ष का व्यक्त रूप है।

'आँसू' का आलम्बन—सबसे पहले हम 'आँसू' के विभाव-पक्ष पर दृष्टिपात करेंगे—यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि कवि के हृदय को कहाँ से ठेस पहुँच रही है, उसकी भावनाओं का आलम्बन क्या है?

'आँसू' की पूर्व-रचना 'झरना' मे कवि ने गाया था—

"कर गई प्लावित तन मन सारा।
एक दिन तव अपाङ्ग की धारा॥
हृदय से झरना—
बह चला, जैसे दृगजल ढरना।
प्रणय-वन्या ने किया पसारा,
कर गई प्लावित तन मन सारा।"

इस 'तव' में किसकी ओर संकेत है ? किसके कटाक्ष-रस से सारा तन-मन प्लावित हो उठा ? यह 'तव' 'यहाँ' का—इहलोक का—हाड़ माँस का पुतला हो सकता है और उस लोक का भी, जो केवल कल्पना में ही स्थित है—जिस तक हमारी वृत्तियाँ सहज केन्द्रित होना नहीं चाहती; नहीं जानतीं।

'प्रसाद' के एक आलोचक लिखते हैं—"जीवन के प्रेम-विलासमय मधुर पक्ष की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण वे उस 'प्रियतम' के संयोग-वियोगवाली रहस्य-भावना में—जिसे स्वाभाविक रहस्य-भावना से अलग समझना चाहिए—प्रायः रमते पाये जाते हैं। प्रेम चर्चा के शारीरिक व्यापारों और चेष्टाओं (अश्रु, स्वेद, चुम्बन, परिरम्भण, लज्जा की दौडी हुई लाली इत्यादि), रँगरेलियों और अठखेलियों, वेदना की कसक और टीस इत्यादि की ओर इनकी दृष्टि विशेष जमती थी। इसी मधुमयी प्रवृत्ति के अनुरूप उनकी प्रकृति के अनन्त क्षेत्र भी वल्लरियों के दान, कलिकाओं की मन्द मुस्कान, सुमनों के मधु-पात्रों पर मँडराते मलिन्दों के गुँज़ार, सौरभहर समीर की लपक-झपक पराग-मकरन्द की लूट, ऊषा के कपोलों पर लज्जा की लाली, आकाश और पृथ्वी के अनुरागमय परिरम्भ, रजनी के आँसू से भीगे अम्बर, चन्द्रमुख पर शरद्घन के सरकते अवगुण्ठन, मधुमास की मधु-वर्षा और झूमती मादकता इत्यादि पर अधिक दृष्टि जाती थी।" दूसरे आलोचक भी इसी बात को इन शब्दों में कहते हैं—" 'प्रसाद' जी का काव्य मूलतः मानवीय है।" इसके विपरीत ऐसे भी आलोचक हैं, जो 'प्रसाद' की रचनाओं में रहस्यवाद ही पाते हैं; वे इसे विरह-काव्य तो मानते हैं पर विरह में अलौकिकता का आरोप कर आत्मा को परमात्मा के विरह में 'आँसू' बहाता पाते हैं। हाल ही एक समाचार पत्र में 'आँसू' के 'कथानक' की रोचक 'खोज' पढ़ने को मिली। उसे हम यहाँ मनोविनोद के लिये दे रहे हैं। "इसमें (आँसू में) सृष्टि के मिलन और विरह का आख्यान है। सवाल उठता है, सृष्टि का यह मिलन और विरह किससे ? 'सुन्दर' से 'चिर सुन्दर' से। (फिर सवाल उठता है—यह 'सुन्दर'—'चिरसुन्दर' कौन ? इसका उत्तर आगे "ब्रह्म" कह कर दिया गया है।)

'आँसू की 'कथा' लेखक यों देते हैं:—

"सृष्टि की एक महा मिलन की अवस्था थी। उसमें सर्वदा सुन्दर का विस्तार था। सृष्टि और सुन्दर एक दूसरे से परे पड़े थे।" (मिलन की अवस्था थी और 'परे भी पड़े थे।', यह विरोधाभास भी रहस्यमय ही है!)

आगे और भी सुनिये—"वस्तुतः सृष्टि और सुन्दर दो चीजें नहीं थीं। केवल एक ही वस्तु थी—सुन्दर के यहाँ विस्तार पदार्थ का असीम समूह। महामिलन की यह अवस्था एक लम्बे युग तक चलती रही। फिर पदार्थ का पृथक्करण होना शुरू हुआ। पृथ्वी आकाश से अलग हो गई; (तो क्या आकाश और पृथ्वी भी एक थे ?) नक्षत्र अलग हो गये। यह प्रतिक्रिया(?) भी एक लम्बे समय तक चलती रही। भीषण आँधियाँ उठीं, बर्फ की चट्टान पिघल-पिघल कर सागर, सरिता, सरोवर आदि के रूपों में बहने लगीं। भीषण आँधियाँ आईं, अँधेरा छाया; बिजलियाँ कड़कीं। संक्षेप में सृष्टि विभिन्न तत्वों में बँट गई। फिर सृष्टि में चेतना तत्व का विकास हुआ और 'सुन्दर' तिरोहित हो गया। तब से सृष्टि का सुन्दर से विरह शुरू हो गया। विरह का आविर्भाव क्यों हुआ ? चेतना के कारण। चेतनाशून्य अवस्था में द्वन्द्व का अस्तित्व न था, सर्वत्र एक ही तत्व था चिर-सुन्दर। पर चेतना के उदय के साथ सुख-दुःख का भेद प्रकट होने लगा। अब हजारों सालों से सृष्टि की यह विरहावस्था चली आ रही है। उस सुन्दर का, जो सृष्टि के महामिलन की अवस्था में सर्वत्र विद्यमान था, ज्ञान कवि की प्रतिभा को होता है। उसकी पूर्व स्मृति जाग उठती है। कवि सृष्टि के महामिलन की अवस्था का ध्यान कर के अब चतुर्दिक विरह का प्रसार देख कर नौ-नौ(?) आँसू बहाता है। अन्त में उसे इस बात से आश्वासन प्राप्त होता है कि फिर प्रलय के बादल उठेंगे, भीषण वर्षायें होंगी, आँधियाँ आयेंगी, बिजलियाँ चमकेंगी, द्वित्व समाप्त हो जायगा, चेतना सुप्त हो जायगी। फिर महा-मिलन की अवस्था आयेगी, सर्वत्र सुन्दर का विस्तार प्रस्तावित होगा।" आपने प्रथम 'सृष्टि' को 'प्रेमिका' और 'सुन्दर' को 'प्रियतम' का प्रतीक माना, फिर शीघ्र ही अपने विचार को बदल दिया, "या यों कहिये सृष्टि प्रेमी है,' 'सुन्दर' प्रेम पात्र। सृष्टि का प्रतिनिधि कवि स्वयं है।" आपकी सम्मति में 'आँसू' 'सृष्टि' की उत्पत्ति और प्रलय का रूपक' है। इसके समर्थन में आप आँसू' से निम्न पंक्तियाँ भी उद्धृत करते हैं :—

"बुलबुले सिन्धु के फूटे,
नक्षत्र मालिका टूटी।
नभ मुक्त कुन्तला धरणी,
दिखलाई देती लूटी।
छिल-छिलकर छाले फोड़े,
मल-मल कर मृदुल चरण से।

घुल-घुल कर रह बह जाते,
आँसू करुणा के कण से।"

और इनका इस प्रकार अर्थ करते हैं:—

"महामिलन की अवस्था" में पदार्थ का प्रबल उष्ण पदार्थ का (शायद आप उस धारणा का उल्लेख करते हैं, जिसमें सृष्टि को आदिमावस्था मे आग का गोला कहा गया है।) एक असीम समूह था। उसका कुछ हिस्सा फफोलों की तरह फूट गया। (यह 'छिल-छिल कर छाले फोड़े' का अर्थ लगाया गया है !) और सागर के रूप मे बह चला। पदार्थ के उस असीम समूह से प्रकाश पुञ्ज के पिण्ड-पिण्ड अलग हो गये। ये सब नक्षत्र बन गये। (यह सम्भवत: 'नक्षत्र मालिका टूटी' का अर्थ है।) बेचारी यह पृथ्वी नभ-मुक्त होकर यानी पदार्थ के उस बृहत्तम समूह से अलग हो कर शोभा विहीन बिखरे बाल हैं जिसके ऐसी, एक विधवा की तरह लुटी हुई, दिखाई देने लगी। बर्फ की चट्टानों पर चट्टानें फिसलने लगी और फिसल कर पृथ्वी के ऊपर सरिता, सागर और सरोवरों के रूप में बन गई। मानों आनन्द की उस महा सम्पत्ति के लुट जाने पर ये सब आँसू बहा रहे थे।"

'आँसू' को ध्यान से पढ़ने पर लेखक द्वारा निर्दिष्ट "रूपक" की संगति नहीं बैठती। न कहीं बर्फ की चट्टानों के पिघलने का उल्लेख है, न कहीं आँधी और बिजलियों के चलने-गिरने का। लेखक ने

" झंझा झकोर गर्जन, बिजली है, नीरद माला।
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला।"

से पहिली पक्ति के " झंझा-झकोर, बिजली और नीरद माला' शब्दों को लेकर यह कल्पना तो कर ली कि यह सृष्टि पर होने वाले प्रलय का वर्णन है पर उसी की दूसरी पंक्ति " पाकर इस शून्य हृदय को,···············सब ने आ डरा डाला।" को सर्वथा विस्मृत कर दिया। यदि वे तनिक विचार करते तो उन्हें 'झंझा', 'बिजली' और 'नीरदमाला' भावों की हल-चल वेदना और उदासी के प्रतीक जान पड़ते, जो वियोग की दशा में कवि के हृदय को अभिभूत किये हुए थे।

इसी प्रकार 'छिल-छिल कर छाले फूटे' का (सृष्टि के ?) 'प्रबल उष्ण पदार्थ का कुछ हिस्सा फफोले की तरह फूट गया', अर्थ लेखक की दिमागी कसरत ही प्रतीत होती है। 'बुलबुले सिंधु के फूटे, नक्षत्र-मालिका टूटी' का अर्थांश 'उस असीम समूह से प्रकाश पुंज के पिंड के पिंड अलग हो गये। ये

सब नक्षत्र बन गये ।' भी असगत है । पंक्ति में नक्षत्रमालिका के बनने का भाव कहाँ है ? वहाँ तो उसके टूटने की चर्चा है । आगे 'नभमुक्त कुन्तला धरणी का अर्थ ' बेचारी यह पृथ्वी नभ मुक्त होकर यानी पदार्थ के उस वृहत्तम समूह से अलग होकर' किया गया है । इससे क्या यह समझा जाय कि 'नभ' पृथ्वी के समान ठोस विस्तृत पदार्थ है जिसका एक टुकडा यह पृथ्वी है ? यह बात विज्ञान से सिद्ध नही होती । फिर 'मुक्त कुन्तला धरणी' का अर्थ बिखरे बाल है जिसके, ऐसी भी किया गया है । 'मुक्त', कुन्तला का विशेषण हो जाने पर उसका "नभ" से क्या सम्बन्ध जोड़ा गया है, यह स्पष्ट नहीं है । इतनी खींचतान करने पर भी लेखक अन्त तक सृष्टि के सर्जन और विसर्जन (प्रलय) की वैज्ञानिक कहानी का पूर्ण निर्वाह नही कर पाये । अतः अंत में उन्होंने यह लिख कर झंझट से छुट्टी पा ली कि "आँसू के कथानक में वैज्ञानिकता—अवैज्ञानिकता दोनों है ।" यह सब गड़बड़झाला इसलिए हो गया कि लेखक ने 'प्रसाद' के प्रतीकों को ठीक रूप में पकड़ने की चेष्टा नहीं की और न उनकी सगति ही वे जमा पाये । कवि की अभिव्यक्ति व्यापक होती है । पाठक उसे अपनी बुद्धि के अनुसार अर्थ देने के लिये स्वतंत्र है, पर अर्थ ऐसा हो जो संगति के 'चारों खूंट घेर ले ।' 'आँसू' में कला की सजगता इतनी अधिक है कि पाठक उसमें मनमाना अर्थ खोज सकता है पर वही अर्थ मान्य होना चाहिये जिसका अन्त तक निर्वाह हो सके । इसीलिए हमने उसे मानवीय काव्य माना है—रहस्यवादी नहीं । शुद्ध रहस्यवादी रचनाओं में 'अन्नमयकोष' के प्रति विरक्ति पाई जाती है; चैतन्य 'मनोमय' और 'आनन्दमय' कोषों में 'एकता' का अनुभव करता है । अन्तिम कोटि की रचनायें चाहे जो कहलायें, काव्य के अन्तर्गत नहीं आतीं । उनसे बुद्धि का कुतूहल दूर हो सकता है, हृदय की प्यास नहीं बुझ सकती ।

आँसू मे व्यक्त के प्रति ही आकाक्षा प्रकट की गई है । इसमें अन्नमय कोष का—स्थूल सौन्दर्य का—आकर्षण प्रबल है, जो निम्न उद्गारों से स्पष्ट है :—

(१) **इस हृदय-कमल का घिरना**
अलि-अलकों की उलझन में ।
(२) **बाँधा था विधु को किसने**
इन काली जंजीरों से ।
(३) **थी किस अनङ्ग के धनु की**
वह शिथिल शिञ्जिनी दुहरी ।

अलबेली बाहु-लता या
तनु छवि-सर की नव लहरी ?

आदि शब्दों में 'स्थूल शरीर' का नख-शिख वर्णन ही है। अतः 'आँसू' का आधार ससीम व्यक्ति है, जिसके मिलन-सुख की स्मृति ने कवि के हृदय में वेदना-लोक की सृष्टि की है। यह अवश्य है कि कवि ने यत्र-तत्र परोक्ष का संकेत कर उसे अलौकिकता की आभा से दीप्त करने का प्रयास किया है, जिससे एसा भासने लगता है कि कवि का उस 'विराट' से साक्षात्कार हो चुका है। निम्न पक्तियो मे कुछ ऐसा ही संकेत है—

(१) कुछ शेष चिह्न हैं केवल,
मेरे उस महामिलन के।
(२) आती है शून्य क्षितिज से
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी।

परन्तु इन संकेतों के विद्यमान रहते हुए भी रचना का आधार एकदम पारलौकिक नहीं माना जा सकता। प्रेमी के लिए उसके प्रिय का क्षणिक मिलन—ऐसा मिलन, जिसे वह अन्तिम समझ चुका है—'महा-मिलन' ही है, और 'आँसू' की 'स्मृतियों की बस्ती' मे तो हमें प्रिय की पार्थिव अङ्ग-शोभा ही नही, 'प्रेमी' और 'प्रिय' के शरीर-व्यापारों की झाँकी भी मिलती है—

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा,
निश्वास मलय के झोंके।
मुख-चन्द्र चाँदनी-जल से,
मैं उठता था मुँह धोके!

इसके साथ ही जब हम यह पढ़ते है—

निर्मम जगती को तेरा,
मङ्गलमय मिले उजाला।
इस जलते हुए हृदय की,
कल्याणी शीतल ज्वाला।

तब जान पड़ता है, आँसू का 'आलम्बन' जन-समूह भी है।

तो क्या हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भांति यह मान लें कि 'आँसू' की वेदना की कोई विदिष्ट भूमि नहीं' और 'उसका कोई एक समन्वित प्रभाव निष्पन्न नहीं होता'? पुस्तक को ऊपरी दृष्टि से—सरसरी तौर पर-देखा

जाय, तो ये आक्षेप ठीक प्रतीत होंगे; किन्तु उसकी मनोभूमि में प्रविष्ट होने पर हमे उसमें जीवन की एक मनोवैज्ञानिक कहानी अन्तर्हित दिखलाई देती है। उसकी निर्दिष्ट भूमि भी मिलती है।

'आँसू' के नायक को 'दुर्दिन' * में अपनेग तवैभव–विलासपूर्ण जीवन-का स्मरण हो आता है; उसकी प्रेयसी की मदमाती छवि उसकी आँखों में बस जाती है। उसे याद आता है, मानो 'हाफ़िज़' के शब्दों में माशूकों' के जमाव में सम्राट् एक ही था। गिनती मे वे हज़ारों थे, मगर उसके दिल को चुरानेवाला एक ही था।' † स्मृति के जागृत होते ही वह उदास हो जाता है–अपने 'प्रिय' के प्रथम आगमन–प्रथम परिचय–की अवस्था को रह रह कर बिसूरने लगता है। कभी सोचता है, वह इस पृथ्वी की न थी, स्वर्गिक आभा थी, जो उससे मिलने को नीचे आई थी। ‡ उसका 'मधुराका' को लजानेवाला 'मुख' देखते ही वह उसकी ओर खिंच गया था। Love at first sight § इसी को कहते है। उसमें वह अपना अस्तित्व ही भूल गया। उसने उस पर पूर्ण अधिकार जमा लिया। * जब मनुष्य के मन में किसी की स्मृति तीव्रतम हो उठती है, तो वह स्मृति के आधार की आकृति, उसकी बातों, उसके व्यापारों—कार्य कलाप—का बहुत विस्तार के साथ मनन करने लगता है। तभी हम 'आँसू' के नायक को अपने 'प्रिय' के शारीरिक सौन्दर्य वर्णन में—नहीं, नहीं, उसके साथ मिलन-क्रीड़ाओं का उल्लेख करने में भी—हर्ष–विकम्पित पाते है। 'चाँदनी' की चाँदी भरी रातें सुख के सपनों की अधिक समय तक उसके 'कुञ्ज' में वर्षा नही करने पाई। वह 'प्रिय' से बिछुड़ जाता है और वह उससे मुँह भी मोड़ लेती है। † तब उसका हृदय स्वभावत: जलता है, तड़पता है। उसमें आशा–निराशा की आँख मिचौनी सी होती रहती है। जब सशरीर अपने

---

* जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई,
दुर्दिन में 'आँसू' बन कर वह आज बरसने आई।

† थी एक लकीर हृदय में, जो अलग रही लाखों मे।

‡ गौरव था, नीचे आए मिलने को प्रियतम मेरे।

§ परिचित से जाने कब के, तुम लगे उसी क्षण हमको!

* पर समा गये थे मेरे मन के निस्सीम गगन में'

† छिप गईं कहाँ छूकर वे, मलयज की मृदुल हिलोरें।
क्यों घूम गईं है आकर, करुणा-कटाक्ष की कोरें॥

आँसू

निकट उसे देखने की आशा का अन्त हो जाता है, तब वह प्रकृति के व्यापारों द्वारा उसके सान्निध्य-सुख का अनुभव करने लगता है :—

शीतल समीर आता है, कर पावन परस तुम्हारा ।
मैं सिहर उठा करता हूँ, बरसा कर आँसू-धारा ॥

जैसे उद्‌गार इसी परिस्थिति के द्योतक हैं ।

फिर वह अपनी स्थिति से ही सन्तुष्ट होने का प्रयत्न करता है—

निष्ठुर ! यह क्या, छिप जाना ? मेरा भी कोई होगा
प्रत्याशा विरह-निशा की हम होंगे औ' दुख होगा ।

'दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना' के अनुसार वह निराशा को त्याग देता है । दुःखी मनुष्य का दुःख दूसरों के दुःख को देख कर घट जाता है । 'आँसू' के नायक ने जब देखा कि ससार में वही दुःखी नही है, उसके चारों ओर मानव-जाति पीड़ा से कराह रही है, तब वह अपनी व्यथा को भूलने लगता है, दूसरों के दुःख-दर्द में अपनी सहानुभूति प्रकट करने लगता है और प्रकृति से भी प्रार्थना करता है कि वह भी ससार के दुःख को कम करने में सहायक बने । वह अपनी वेदना से भी कहता है—तुम अपनी ही उलझनों को सुलझाने में व्यग्र न रहो; अपने ही अभावो में न जलो । तुम्हारे चारों ओर जो हाहाकार मचा हुआ है, उसे भी अनुभव करो । संसार के सभी दुःखी प्राणियो के दुःख में अपने आँसू बहाओ ।

'आँसू' में मानव-जीवन का व्यक्ति का समष्टि की ओर विकास भी दिखलाई देता है । पहिले हम भौतिक सौन्दर्य की ओर एकदम खिंच जाते हैं, उसी को परमात्मा मान लेते हैं—स्वर्ग और परलोक की सारी कल्पनाओं का उसी में आरोप कर देते हैं । उसकी आराधना में ही हम सब कुछ भूल जाते हैं । हमारी दुनियाँ 'दो' ही में समा जाती है । परन्तु जब भौतिक सुख छिन जाता है, तो हम पहले तो उसकी याद में तडपते है, रोते है, आशा-निराशा में उतराया करते हैं और फिर ज्यों-ज्यों उसके अप्राप्य बनते रहने की सम्भावना बढ़ती जाती है, हमारी मोह-निद्रा टूटती जाती है । हम वस्तु-स्थिति को पहचानते हैं और अपनी सहृदयता को अपनी ही ओर केन्द्रित न रख कर संसार में बिखेर देते हैं । लोक-कल्याण मे हम अपने जीवन का अन्तिम ध्येय अनुभव करने लगते हैं । दूसरे शब्दों में 'आँसू' में पहले उठते यौवन की मादकता—बेचैनी, फिर प्रौढ़ता का चिन्तन और अन्त में ढलती आयु का निर्वेद दिखलाई देता है ।

'आँसू' की 'आत्मा' को देखने पर उसमें तारतम्य जान पड़ता है। अतः वह 'प्रबन्धमय' है। पर 'आँसू' के अनेक पद्य ऐसे है कि उन्ही पर मन को केन्द्रित करने से वे प्रत्येक अपने में पूर्ण प्रतीत होते है। इस तरह, 'आँसू' उस मोतियों की लड़ी के समान है जिसका प्रत्येक मोती पृथक रह कर भी चमकता है और लडी के तार में गुँथ कर भी 'आब' देता है। वस्तुत. उसमें मुक्तत्व और प्रबन्धत्व दोनो है।

भाव-पक्ष

हमारे हृदय में अनेक भावों की स्थिति है; परन्तु वे कुछ एक—नौ—में परिगणित कर लिए गए है और वे ही हमारे मूल भाव मान जाते है। शेष समय-समय पर तरङ्गित हो उठते है। साहित्य में वे ही भाव—वे ही भावनाएँ—मान्य है, जो अपने 'आश्रय' के 'सुख-दुःख' तक ही सीमित नहीं हैं, प्रत्युत् जिनकी व्याप्ति विश्व मे समाई हुई है; जो केवल कवि में उदित नहीं होते, समान परिस्थिति में अन्य व्यक्तियों मे भी जाग उठते है। दूसरे शब्दों में, जिन भावों में साधारणीकरण की अवस्था पैदा करने की सामर्थ्य नहीं, वे व्यक्ति-विशेष के भाव हो सकते है, साहित्य के नही।

'प्रसाद' के 'आँसू उनकी ही आशा-निराशाओं के 'स्फुल्लिङ्ग' नहीं हैं। उनमें हमारी आशाएँ-निराशाएँ भी प्रतिबिम्बित जान पड़ती है। वे हममें पीड़ा भर कर भी अनिवर्चनीय 'आनन्द' की सृष्टि करते है। परन्तु 'आँसू' के भावों की एक विशषता है—वे सीधे निःसृत होकर सीधे ही प्रविष्ट नही होते। वे कला का सुन्दर अवगुण्ठन डाल कर आते है। जब तक हम कवि के सश्रम निर्मित अवगुण्ठन को पहचान नहीं पाते, वे हमारे मन मे 'रस—बूँद नहीं बरसा पाते; हमे आत्मविभोर नही बना पाते। यही कारण है, 'आँसू' में बहुतों को दुरूहता दिखाई देती है। सच बात तो यह है कि अप्रच्छन्न होकर 'प्रसाद' ने बहुत कम कहा है। कई बार वे शब्दों का चित्र खीच कर ओझल हो जाते है और हमें अपनी भावनाओं का रङ्ग भरने को स्वतन्त्र छोड़ देते है। कभी कभी ऐसा भी प्रतीत होन लगता है कि कवि स्वयं अनुभव नही कर रहा है, उसकी बुद्धि अनुभव का अभिनय कर रही है। जहाँ कवि अपनी 'मीड' को भूल जाता है, वही उसकी बुद्धि जाग उठती है और विवेक के गीत गाने लगती है। अँगरेजी का प्रसिद्ध आलोचक 'रिचार्डस्' आधुनिक श्रेष्ठ कवि टी० एस० ईलियट की रचनाओं के सम्बन्ध में लिखता है कि 'उसके काव्य में विचारों का सङ्गीत झरता है' ("His Poetry can be called a

Music of ideas......they are there to be responded to, not to be pondered or worked out")।

उसके साथ हमारा मन चिन्तनशील नही बनता, 'बहता' है। 'आँसू' में जहाँ बुद्धितत्त्व है, वह इसी कोटि का है। कवि जहाँ अपनी वेदना को विश्व मे बिखेरने के लिए अपने चारों ओर आँखे दौड़ाते है, वहाँ उनम भावावेश (Emotion) का वह अश सो जाता है जिसका ससार अपने तक ही रहता है। 'बुद्धि ही बहिर्मुखी बनाती है। 'कवि' के बहिर्मुखी होने पर भी उनके अनुभूत गीतों में शुष्कता नही है। संसार की स्वार्थपरता और कृतघ्नता पर य पक्तियाँ क्या हमारे मर्म तन्तुओं को नही हिलाती ?—

" कलियों को उन्मुख देखा ,
सुनते वह कपट कहानी।
फिर देखा उड़ जाते भी ,
मधुकर को कर मनमानी।"

इनमें कोई उपदेश नहीं है, आदेश नही है। फिर भी वे 'बुद्धि पर विचार का भार न लाद कर भी हमे उपदेश देती है और निर्देश भी। पर 'उपदेश' और 'निर्देश' हमारा अचेतन मन ही ग्रहण करता है।

हम पहिले कही कह आये है कि 'प्रसाद' समय की व्यापक चेतना के प्रति जागरूक रहे है। अत: जहाँ 'आँसू' म उनकी करुण अनुभूति की सिसक और कसक है, वहाँ 'चिर-वञ्चित भूखो की प्रलय दशा' ने भी उनकी आँखों को गीला बनाया है। यही जागरूकता ही मन के तोल को सँभालती है—बुद्धि के उदय का आभास देती है।

'आँसू' का मुख्य भाव विरह-शृगार है जो 'करुणा' के सिञ्चन से निखर गया है और लोक-कल्याण की शान्त कामना से पूत हो उठा है। 'आँसू' के पूर्व ही 'राज्यश्री' मे कवि का अन्तर-स्वर सुन पड़ा था —

" दुःख परितापित धरा को,
स्नेह जल से सींच।
स्नान कर करुणा सरोवर,
धुले तेरा कीच॥"

विरह में 'स्मृति' का ही प्राधान्य होता है; अत: 'आँसू' में हम 'प्रेमी' और 'प्रिय' के मिलन-सुख का भी रङ्गीन चित्र पाते हैं, जो 'काव्य' में सम्भोग-शृङ्गार कहलाता है। 'परिरम्भ-कुम्भ की मदिरा' आदि पद्यों की तन्मयता भवभूति के राम-सीता-मिलन का निःश्वास छोड़ रही है, कितनी

दृढ, कितनी मधुर ! 'प्रिय' के नखशिख वर्णन में यद्यपि सर्वथा नूतनता नहीं है, फिर भी 'आँखों की अञ्जन रेखा' के आकर्षण में 'काले पानी की सज़ा' की सूझ 'प्रसाद' के मस्तिष्क में ही उग सकती थी।

'प्रिय' के प्रथम दर्शन में मधुराका की मुस्कुराहट खेल रही थी—इतना सौन्दर्य 'शून्य हृदय' को आत्म-विभोर बनाने के लिए बहुत था। तभी वह एक दम उसके साथ 'एक' हो गया और कहने लगा—

"परिचित से जाने कब के,
तुम लगे उसी क्षण हम को।"

आकर्षण की तीव्रता की यही अनुभूति हो सकती थी। यद्यपि 'अनुभूति' की यही व्यञ्जना पहिले पहल 'प्रसाद' ने नहीं की, पर इसमें सन्देह नहीं, अनुभूति उनकी उधार ली हुई नहीं है। 'विरह' की अवस्था में प्रलाप, निद्रा-भग, ग्लानि, चिन्ता, मोह, स्मृति, दीनता, व्रीड़ा आदि भावों का 'संचार' 'आँसू' में मिलता है। शास्त्रीय भाषा में ये विप्रलम्भ शृङ्गार के 'संचारी भाव' कहे जाते हैं। यहाँ कतिपय सचारी भावों के उदाहरण दिये जाते हैं :—

मोह :—

"इस विकल वेदना को ले,
किसने सुख को ललकारा।
वह एक अबोध अकिञ्चन,
बेसुध चैतन्य हमारा।"

स्मृति :—

"मादक थी—मोहमयी थी,
मन बहलाने की क्रीड़ा।
अब हृदय हिला देती है,
वह मधुर प्रेम की पीड़ा।"

('स्मृति' के कई पद 'आँसू' मे मिलते हैं।)

ग्लानि :—

"बेसुध जो अपने सुख से,
जिनकी हैं सुप्त व्यथायें।
अवकाश भला है किन को,
सुनने को करुण कथायें"

धृति :—

"निष्ठुर ! यह क्या, छिप जाना ?
मेरा भी कोई होगा।
प्रत्याशा विरह-निशा की,
हम होंगे औ दुःख होगा।"

व्रीड़ा :—

"रो-रो कर सिसक-सिसक कर,
कहता मैं करुण कहानी।
तुम सुमन नोचते सुनते,
करते जानी अनजानी।"

इसमें निष्ठुरता का भाव तो स्पष्ट है पर प्रेमी की प्रेमभरी बातें सुनने से प्रेमिका का दुर्लक्ष्य प्रदर्शित करने में "लज्जा" का संचारी भाव भी ध्वनित हो रहा है। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि काव्य में रस की तरह 'संचारी भाव' भी ध्वनित होते है। करुण-भाव की यत्र-तत्र पर्याप्त झलक दिखलाई देती है, वह उसी से व्याप्त है। एक जगह 'प्रसाद' ने 'शृङ्गार' मे 'वीभत्स' को समाविष्ट कर दिया है—

"छिल-छिल कर छाले फोड़े,
मल-मल कर मृदुल चरण से।
घुल-घुल कर बह रह जाते,
आँसू करुणा के कण से।"

इसमें फारसी-काव्य का रंग स्पष्ट है।

वस्तु वर्णन में कवि ने 'प्रिय' के नख-शिख का सुन्दर वर्णन किया है, जो 'आँसू' के पृष्ठ २१ से * प्रारम्भ होता है और २४ पृष्ठतक चला जाता है। वर्णन परम्पराजन्य होते हुए भी कवि ने नई कल्पनाओं की भी उद्भावना की है। 'प्रिय' की आँखो मे काजल की रेख लगी हुई है, जिसे देख कर वहाँ से मन नही हटता। उस 'रेख' को अडमान के कालेपानी का किनारा कह कर कवि ने केवल "दूर की कौड़ी" लाने की ही चेष्टा नहीं की, भावानुभूति में भी गहराई भर + दी है। कानों का वर्णन भी नवीनता लिए हुए हैं।

---

* 'बाँधा था विधु को किसने,
इन काली जंजीरों से'......आदि

+ 'चञ्चला स्नान कर आवे......
आलोक मधुर थी ऐसी।'

'आँसू' में बाह्य-प्रकृति स्वतन्त्र रूप से प्राय: आँखें नही खोल सकी; वह अन्तर-प्रकृति से मिल कर उसे खिलाने मे सहायक मात्र हुई है।

'सिरस' का फूल 'कुसुमाकर'-रजनी के पिछले पहरों में खिल और प्रात: धूल में मिल कर 'प्रेमी' के मन की रात और प्रात: कालीन अवस्था को ही प्रकट करता है। कवि की दृष्टि प्रकृति के व्यापारो पर जाकर शीघ्र ही अपने में लौट आती है, मानों उसे वहाँ कोई भूली चीज़ याद आ गई हो और उसे पाने को वह विह्वल हो अपने घर की ही छान-बीन कर रहा हो। रात का आंशिक वर्णन अवश्य भाव और कल्पनापूर्ण है, उसके स्पर्शहीन अनुभव का स्पन्दन अपूर्व है—

"तुम स्पर्श हीन अनुभव सी,
नन्दन तमाल के तल से।
जग छा दो श्याम-लता सी,
तन्द्रा पल्लव विह्वल से।
सपनों की सोनजुही सब,
बिखरें, ये बन कर तारा।
सित-सरसिज से भर जावे,
वह स्वर्गङ्गा की धारा।"[1]

'प्रसाद' निशा के अमानव रूप पर अपने को अधिक समय तक नहीं ठहरा सके—उन्होंने उसे 'नीलिमा शयन पर आसीन कर 'अपाङ्ग' की चेष्टाओं में रत कर ही दिया—वह एक वैभवशालिनी नेत्रों में कटाक्ष भरी सुन्दरी बन कर चित्रित हो जाती है। यही रोमेंटिक कवि का कल्पना-वैभव है!

"नीलिमा शयन पर बैठी
अपने नभ के आँगन में।
विस्मृति का नील नलिन रस,
बरसो अपाङ्ग के घन से।"

कला-पक्ष

इसमें भावों की अभिव्यक्ति का रूप सामने आता है। भावों की अभिव्यक्ति भाषा द्वारा होती है तथा भाषा शब्दों से बनती है, जिनके अर्थ की दृष्टि से तीन भेद है—(१) वाचक, (२) लक्षक और (३) व्यञ्जक। वाचक शब्दों से उनका कोषादि में वर्णित अर्थ प्रगट होता है। लक्षक शब्दों

से वाचक अर्थ नहीं, उससे सम्बन्धित रूढ़ि या प्रयोजन से दूसरा अर्थ प्रकट होता है। जो अर्थ वाचक शब्द से प्रगट होता है, उसे शब्दों की अभिधा शक्ति का परिणाम कहा जाता है और जो अर्थ लक्षक शब्दों से जाना जाता है, उसे शब्दो की लक्षणा-शक्ति का फल कहा जाता है। जो अर्थ शब्दों की अभिधा या लक्षणा-शक्ति से प्रगट न होकर प्रसग-सदर्भ आदिसे प्रगट होता है, उसे व्यञ्जना-शक्ति का परिणाम कहा जाता है। 'आँसू' में शब्दों की लक्षणा-शक्ति से विशेष काम लिया गया है। उसमे हमारे परिचित सृष्टि के सादृश्य और साधर्म्य व्यापारों के साम्य दिये गये हैं। इसे यों भी कह सकते है कि कवि ने 'सार्वभौमिक प्रतीको को अधिक अपनाया है'—जैसे सुख दु:ख के लिये क्रमशः चन्द्रिका और अन्धेरी; भावनाओं के लिये 'कलियों', 'लहर' आदि के प्रभाव साम्य मिलते हैं। प्रथम पद्य ही प्रतीक और लक्षणा के साथ प्रवाहित होता है:—

'इस करुणा कलित हृदय मे,
अब विकल रागिनी बजती'

में 'रागिनी' लक्षक शब्द है। हृदय ऐसी चीज़ नही है, जिसमे 'तार' लगे हों और किसी की अँगुलियों के चलने से 'राग' निकले। अतएव जब वाच्यार्थ से अभिलषित अर्थ असंभव हो जाता है तब हमे लक्षणा-शक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। 'रागिनी' से हम "दु:ख का पैदा होना" अर्थ लेंगे। 'रागिनी'—"स्वर" का, उसास का—प्रतीक है। इसी प्रकार "वेदना असीम गरजती" मे 'वेदना' कोई शेर नहीं है जो 'गरजे'। अतः लक्षणा से हमें वेदना की अत्यधिक तीव्रता का अर्थ ग्रहण करना पडता है।

'ये सब स्फुलिंग है मेरी, इस ज्वालामयी जलन के' में 'स्फुलिंग' गरम आँसू का प्रतीक है। स्मृति से हृदय में जलन बढ़ गई। परिणामतः गरम गरम आँसू आँखों से निकलने लगे। अग्नि की चिनगारियाँ स्फुलिंग कहलाती हैं। अतः गरम आँसू और स्फुलिंग का गुण-साम्य होने से 'स्फुलिंग' गरम आँसू का प्रतीक बना लिया गया है। इससे वेदना की गहनता भी व्यञ्जित होती है।

"निर्झर सा झिर झिर करता, माधवी कुञ्ज छाया में।"

'माधव कुञ्ज' 'प्रिय' का प्रतीक है और 'छाया' 'सान्निध्य' का। 'माधवी कुञ्ज' में कोमलता, सुन्दरता, मोहकता आदि गुणों का समावेश 'प्रिय' के रूप, स्वभाव आदि का द्योतक हैं। इसमें उपमेय-प्रिय का लोप होकर उपमान ही कथित होने से साध्यवसाना लक्षणा है। माधवी कुञ्ज' शब्द-प्रयोग 'प्रिय' के सौन्दर्य की बड़ी सुन्दर प्रतिमा खड़ी कर देता है।

'भिर भिर करता' में लक्षणा से मन के सरस रहने, आनन्दित रहने का भाव लक्षित होता है ।

'बाँधा था विधु को किसने, इन काली जञ्जीरों से' में 'विधु' लक्षक शब्द है जिसमें साध्यवसाना अगूढ़ प्रयोजनवती लक्षणा है । 'विधु' का उपमेय 'मुख पृथक न कह कर उसका अध्यवसान 'रूप' में कर दिया गया है । कवि का प्रयोजन मुख का अधिकाधिक सौन्दर्य प्रदर्शित करना स्पष्ट ही है । 'काली जञ्जीरों' से कवि का प्रयोजन "केशों" की श्यामता दिखलाना है । इसमें भी उपमान का ही उल्लेख है, उपमेय 'केशों' का अध्यवसान है । इसलिए यहाँ साध्यवसाना लक्षण लक्षणा है । इसी प्रकार "मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से" में भी साध्यवसाना लक्षणा है । 'नीलम की नाव निराली' में उपमान मात्र का उल्लेख होने से साध्यवसाना लक्षणा है ।

'विद्रुम सीपी सम्पुट में, मोती के दाने कैसे ?' में मूँगे की सीपी' के वाच्यार्थ से अभिलषित अर्थ स्पष्ट नहीं होता । अतः लक्षणा से मूँगे के समान लाल 'अधर-पुट' प्रकट हुआ । चूँकि उपमेय अकथित है इसलिए उसका अध्यवसान उसके उपमान में होने से यहाँ साध्यवसाना लक्षणा हुई ।

इसी प्रकार 'दाँत' उपमेय का 'मोती' उपमान में अध्यवसान होने से 'मोती के दाने' में साध्यवसाना लक्षण लक्षणा हुई । लक्षण लक्षणा में लक्षक शब्द अपना अर्थ छोड़ कर दूसरा अर्थ देता है । 'मोती के दान' का जब अर्थ "दाँत" लिया गया तब स्पष्टतः लक्षण लक्षणा है ।

'आँसू' के चरण-चरण में लक्षणा—और प्रतीक का कलापूर्ण सौन्दर्य चमक कर सहृदय पाठक को चमत्कृत और बहुधा भाव-विभोर बनाता है ।

कवि ने स्थूल के सूक्ष्म और सूक्ष्म के स्थूल उपमान भी यत्र-तत्र रखे हैं । साथ ही सूक्ष्म के सूक्ष्म और स्थूल के स्थूल उपमान भी पाये जाते हैं ।

स्थूल का सूक्ष्म उपमान—

'मादकता से आये तुम, संज्ञा से चले गये थे ।'

सूक्ष्म के स्थूल उपमान—

(१) **मकरन्द मेघमाला सी वह स्मृति मदमाती आती ।'**

(२) **क्यों व्यथित व्योम गङ्गा सी, छिटका कर दोनों छोरें ।**
चेतना-तरङ्गिनि मेरी, लेती है मृदुल हिलोरें ।

(यहाँ चेतना सूक्ष्म उपमेय का, व्योम गङ्गा स्थूल उपमान है)

सूक्ष्म के सूक्ष्म उपमान—

(१) प्रतिमा में सजीवता सी, बस गई सुछवि आँखों में।'

सुछवि उपमेय (सूक्ष्म) का उपमान सजीवता (सूक्ष्म) है।

(२) 'जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति सी छाई।'

पीडा (सूक्ष्म) का उपमान स्मृति (सूक्ष्म) है।

स्थूल के स्थूल उपमान—

(१) 'आकाश दीप सा तब वह तेरा प्रकाश झिलमिल हो।'

(२) "काली आँखों में कितनी यौवन के मद की लाली।
मानिक-मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली।"

(३) काला पानी बेला सी है अञ्जन रेखा काली।

(४) मछली सी आखें

उपमा अलङ्कार के अतिरिक्त रूपक और रूपकातिशयोक्ति के उदाहरण भी अधिक पाये जाते हैं। 'सूर' के समान 'प्रसाद' ने लम्बे-लम्बे रूपक बाँधने की चेष्टा नहीं की। वे दो पक्तियों में ही सुन्दर रूपक-'चित्र' उपस्थित कर देते हैं—

(१) 'मुख-कमल समीप सजे थे, दो किसलय से पुरइन के।
जल-बिन्दु सदृश ठहरे कब, उन कानों में दुख किन के?

'मुख' मे कमल का आरोप कर देने के पश्चात कानों को उसके 'पत्ते' कह कर रूपक की सार्थकता सिद्ध की गई है।

(२ कामना सिन्धु लहराता, छबि पूरनिमा थी छाई।'

(३) 'इस हृदय कमल का घिरना, अलि-अलकों की उलझन में।'
आँसू-मरन्द का गिरना, मिलना निश्वास पवन में।

(४) 'बाड़व ज्वाला सोती थी, इस प्रणय-सिन्धु के तल में।'

विरोधाभास—

'शीतल ज्वाला जलती है, ईंधन होता दृग-जग का।'

उदाहरण—

(१) 'जीवन में मृत्यु बसी है, जैसे बिजली हो घन में।

(२) "बस गई एक बस्ती है, स्मृतियों की इसी हृदय में।
नक्षत्र-लोक फैला है, जैसे इस नील निलय में।"

'आँसू' में अलङ्कार-योजना प्रायः भावों का उत्कर्ष बढ़ाने मे सहायक हुई है। 'प्रायः' इसलिये कि ऐसे भी स्थल हैं जहाँ अलङ्कारों ने भाषा की ही श्री-वृद्धि की है।

कला-पक्ष का विवेचन करते समय हमें 'आँसू' के छन्द पर भी विचार करना होगा। 'प्रारम्भिका' में हम इसे अवध उपाध्याय के कथनानुसार "आँसू" छन्द कह चुके है पर वास्तव में यह आनन्द-छन्द है जो २८ मात्राओं का होता है जिसमें प्रत्येक १४ मात्राओं पर विराम होता है। 'प्रसाद' को ही इसे अत्यधिक प्रचलित करने का श्रेय है। 'आँसू' के प्रकाशित होने के पश्चात् महादेवी आदि की रचनाओं में बहुत समय तक "आनन्द" छन्द का ही कल-नाद सुनाई दिया। बिहारी ने जिस प्रकार 'दोहा' छन्द में भावों का सागर लहराने का यत्न किया उसी प्रकार 'प्रसाद' ने आनन्द-छन्द मे लक्षणा के सहारे भावों की सहृति प्रदर्शित की है। तभी हमने प्रारम्भ में कहा है कि स्वर्गीय प्रसाद' हिन्दी के भावुक कवि और कुशल कलाकार हैं, इसे यदि कोई उनकी एक ही रचना में देखना चाहता है तो उसे 'आँसू' की ओर इङ्गित किया जा सकता है।*

'आँसू' पर बँगला का प्रभाव ?

हैद्राबाद की 'कल्पना' (अक्टूबर ५१) में 'आँसू' की मौलिकता की चर्चा करते हुए लेखक ने उस पर बँगला का प्रभाव प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। पर उसके अधिकाश उदाहरण ऐसे है जो किसी भी विरह-काव्य में खोजे जा सकते हैं।

'आँसू' की पक्ति है—

"विष-प्याली जो पीली थी वह
मदिरा बनी हृदय म।"

लेखक ने इसके जोड में चण्डीदास की यह पक्ति प्रस्तुत की है—

"के जाने खाइले गरल हइबे पाइबे एतेक दुखे।"

(मुझे क्या पता था कि गरल खाने पर इतना दुःख झेलना पड़ेगा।)

प्रसाद में विष का मदिरा में परिणत होने का जो भाव है और उससे उसमें जो उत्कृष्टता, गहनता आगई है वह चंडीदास में कहाँ है। चंडीदास को विष दुःख देता है। 'प्रसाद' बार-बार विष पीने को ललचते है। जिस तरह मदिरा पी पी कर भी 'और और' की ललक बनी रहती है उसी प्रकार प्रसाद में 'विष' पीने की चाह प्रति बार उल्लास भरती जाती है।

---

* आँसू के पद्यों के भाव भाषा और उनकी कला पर पृथक् परिशिष्ट (क) में विचार किया गया है। अतः यहाँ इन पक्षों का सविस्तर विवेचन पिष्ट पेषण के भय से नहीं किया गया।

बंगला से इन्दिरा देवी की यह पंक्ति उद्धृत है —

"आकाश भरे उठत तारो, फुटत हास चाँदेर मुखेर।"

और उसकी जोड में प्रसाद की यह पक्ति दी गई है—

"मधुराका मुसकाती थी पहले देखा जब तुम को।"

हम यह मानने को तैयार नही है कि इन्दिरादेवी के "चाँदेर मुख से हास फूटते' देख कर प्रसाद को 'मधुराका मुसकाने' की कल्पना हुई होगी। प्रसाद के काव्य में प्रकृति का मानवीकरण 'आँसू' से पहिले भी मिलता है। राका का मुसकाना कोई बंगला की ही अभिनव कल्पना नहीं है।

कही कही बगला कवि और 'प्रसाद' के भावों में टक्कर भी दिखाई देती है—

(१) "छायानट छवि पर्दे म, सम्मोहन वेणु बजाना"

—'प्रसाद'

"छन्द गीतेर आनन्दमय मधुर छायानटे
जागिएद्दित जीवन-वीणाय राग रागिणी तार
मर्म माझे मुखर पीडेर मूर्छना झंकार।"

(२) "चातक की चकित पुकारें, श्यामा-ध्वनि सरल रसीली
मेरी करुणार्द्र कथा की, टुकडी आँसू से गीली।"

—'प्रसाद'

मौमाछि देर गुञ्जरणे जागल श्याम कुंजवने!
स्वप्नसम तार काहिनी आज के प्रिये द्विप्रहरे।"

—करुणानिदान वन्द्योपाध्याय

(३) "तुम खिसक गये धीरे से, रोते अब प्राण विकल से।"

ए हरि कहलुम तुया पाश लागि,
सो अब जीवइ रवहुँ पुन भागी।

—घनश्यामदास

("तुम मुझे छोड़ कर भाग गये और मैं पड़ी रोती रही गई)।"

प्रसाद की पंक्तियाँ हैं—

"थक जाती थी सुख-रजनी, मुखचन्द्र हृदय में होता
श्रम-सीकर सदृश नखत से अम्बर-पट गीला होता।"

इन्हें पढ़ कर लेखक को आंग्ल कवि मौरिस की निम्न पंक्तियोंका स्मरण हो आता है—

"तुम नहीं जानते कि रात होने पर मेरी प्रियतमा भी निकट आ जाती है"। आपस में मधुर संभाषण और क्षमा प्रदान होता है। आधीरात के अंधकार में उसके चुम्बन शरीर में स्फूर्ति उत्पन्न कर देते हैं।" 'प्रसाद की पंक्तियों का भाव-साम्य उधार की सामग्री ही है, यह नहीं कहा जा सकता। रवि बाबू की गीताञ्जलि में कबीर के भावों की छाया देख कर जब कुछ लोगों ने उन्हें कबीर का ऋण स्वीकार करने को कहा तो उन्होंने बहुत स्पष्टता से कहा कि मैंने गीताञ्जलि की रचना के बहुत बाद कबीर का अध्ययन किया था। 'प्रसाद' टुटपुजिये कवि नहीं थे कि वे भानमती का कुनवा जोड़ते रहते थे। उनकी प्रेमानुभूति सहज गहन थी। अतः अन्य अनुभूतिशील कवि के उद्गारों में यदि उन्हीं जैसे भावों का साम्य है तो क्या आश्चर्य है?

श्रीमती शचीरानी ने अपने "साहित्य दर्शन" में गेटे के वेंर्टेर की तुलना 'प्रसाद' के 'आँसू' से करते हुए लिखा है—

"ठीक जिस परिस्थिति में गेटे द्वारा वेंर्टेर" की रचना हुई उसी परिस्थिति में 'आँसू' भी लिखा गया। किन्तु वर्टेर में धधकती अग्नि सुलग रही है, जिसकी आँच दूसरों को भी दग्ध करती है और 'आँसू' में शीतल ज्वाला है, जिसका धुवाँ अन्दर ही अन्दर उठ कर रम जाता है। वेंर्टेर में प्रचण्डता और दाह है, आँसू में रोदन और करुणा। 'वेंर्टेर' में मस्तिष्क की आँधी तूफान बन कर प्रकट हुई है—'आँसू में अशांत भाव-धारा अश्रुकणों में बिखर कर फूट पड़ी है।" पर इस तुलना का यह आशय नहीं है कि 'प्रसाद' के 'आँसू' पर गेटे की किसी कृति का प्रभाव पड़ा है। प्रसाद का जीवन गेटे के समान बिछनन भरा भी नहीं रहा। 'प्रसाद' ने स्त्री में अनन्त-सौन्दर्य, अनन्त प्रेम और पवित्रता के दर्शन किये थे। तभी एक साधक के समान उन्होंने उसके गौरव के गीत गाये है।

———

लहर

जयशंकर प्रसाद की "लहर" में मन का बाहरी और भीतरी दोनों प्रवृत्तियों का निरूपण है। "आँसू" के बाद प्रकाशित होने से उसमें करुणा की नव अँगड़ाई सी उठ रही है और पलायनवाद का स्वर सुन पड़ता है । उसमें ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित जो चित्र है, उनमें भी निराशा, निर्वेद और वेदना रह-रह कर हहर उठी है। 'लहर' में कुल ३३ रचनाएँ है। उनमें अपने युग की साहित्यिक लहर का पूरा निर्वाह है। यद्यपि कतिपय रचनाएँ बहिर्मुखी है, तो भी उनमे कवि तटस्थ नही है। वह केवल घटनाओं का दर्शक मात्र नही है, उनमें उसकी अन्तर्भावना भी प्रतिध्वनित है । "लहर" का रचनाकाल छायावाद और रहस्यवाद से अभिभूत रहा है । कवि ने छायावाद को वेदनामयी अनुभूति की लाक्षणिक अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है। वे लिखते है—"रीतिकालीन प्रचलित परम्परा से—जिसमें बाह्य वर्णन की प्रधानता थी—इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नये ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे ।"

पर 'आन्तरिक स्पर्श' प्रकृति के रूप तक ही सीमित नहीं है। कुछ समीक्षकों ने छायावादी रचनाओं के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए लिखा है कि जो रचना प्रकृति के साथ कवि की भीतरी अभिलाषा (रागात्मिकावृत्ति) को व्यक्त करे—वह रहस्यवाद की कृति है। पर "प्रसाद" यह नहीं मानते। वे कहते है "छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषतायें है। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह अन्तरस्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है। रहस्यवाद को उन्होंने "अहं का इदम्" से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न माना है और यह अपरोक्ष अनुभूति समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा संभव है। हिन्दी के रहस्यवाद में "विरह" भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बन कर इसमें सम्मिलित है। एक वाक्य में प्रसाद ने इस का सूत्र प्रस्तुत किया है—"काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।" प्रकृति का आत्मा से पृथक्करण नहीं, वरन उसमें पर्यवसान अद्वैत है और द्वैत आत्मा और जगत् की भिन्नता का विकास है। प्रसाद ने रहस्यवादी रचना में "प्रकृति का आत्मा में पर्यवसान" माना है। आत्मा में उल्लास सहित अद्वैत-भावना की प्रतिष्ठा ही रहस्यवादी कवि का लक्ष्य होता है। उन्होंने छायावादी और रहस्यवादी रचनाओं में यही भेद माना है कि एक में जहाँ स्वानुभूति की विशिष्ट शैली में अभिव्यक्ति है, वहाँ दूसरी में "अहं का इदम्" से समन्वय है। हम कवि के इस दृष्टिकोण से ही "लहर" के गीतों की समीक्षा करेंगे।

पं० इलाचन्द्र जोशी के समान हम भी 'लहर' की समस्त कविताओं में 'आसन्न-जीवन-संध्या का करुण विषाद किसी रहस्यमयी गुरु गम्भीर छाया में आवृत' पाते हैं। प्रथम गीत में ही कवि सोई हुई जीवन-लहर को प्यार-पुलक से लहराना चाहता है। वह कहता है :— 'ओ प्यार पुलक से भरी ढुलक! आ चूम पुलिन के विरस अधर' (जीवन-पुलिन के नीरस अधरों का चुम्बन कर उसे एक बार फिर माधुर्यपूर्ण बना दो) इससे स्पष्ट है कि कवि अपनी शुष्क जीवन-चर्या से ऊब गया है। इसीलिये जब कभी उसके जीवन में कुछ क्षण स्नेह की आर्द्रता लेकर आते हैं तो वह गा उठता है —

अरे आगई है भली सी —
यह मधु ऋतु दो दिन को,

छोटी सी कुटिया में रच दूँ,
नयी व्यथा — साथिन को।

'नयी व्यथा साथिन' से कवि का अभिप्राय 'मधुर प्रेम की पीड़ा' से प्रतीत होता है। वह नयी साथिन को हृदय की नन्हीं कुटिया में बसा कर दुलारना चाहता है। एकान्त में दो दिन के 'वसत' का उपभोग लेना चाहता है। अतएव सूखे तिनकों को शुष्क वातावरण को– विचारों को - बियावान जंगल में भगा देना चाहता है। फिर —

"आशा के अंकुर झूलेंगे, पल्लव पुलकित होंगे।"

और 'मलियानिल की लहरें' सिहर भरी - काँपती हुई उसका स्पर्श करेंगी। मादकता का वातावरण छा जायगा और मन का कमल खिल उठेगा। उसके जीवन में 'जवा' पुष्प के समान उषा का उदय होगा। प्रेम के आल्हाद में दिन - रात व्यतीत होंगे। निराशा नष्ट हो जायगी।

"अंधकार का जलधि लाँघकर —
आवेंगी शशि–किरनें
अंतरिक्ष छिड़केगा कन - कन-
निशि में मधुर तुहिन को।"

वसन्त के रूपक में कवि ने अपने जीवन की क्षणिक सुखमयी घड़ियों का स्वप्न देखा है। जब वसन्त आता है तब सूखे पत्ते गायब हो जाते हैं। मन्द - मन्द मलयानिल बहने लगता है; दिन का उदय और रात का चाँदनी-रूप ओस किरणों के मुकुर में बड़ा भला लगता है।

कवि को अपने प्रिय से शिकायत रही है कि उसने उसके अधरों की प्यास बुझने दी। इसलिये वह कहता है :—

निधरक तूने ठुकराया तब,
मेरी टूटी मृदु प्याली को।
उसके सूखे अधर माँगते।
तेरे चरणों की लाली को।

वह उसके चरण-चुम्बन की आकांक्षा करता है अथवा होठों पर मस्ती की लाली लौटाना चाहता है। जगत से भागने की प्रवृत्ति भी उसमें जागृत हो उठती है। वह कहता है —

"ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक! धीरे - धीरे।"

जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी--
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।

वह ऐसी एकान्त स्थली में भाग जाना चाहता है ; जहाँ सागर की लहरों का गान निश्चल प्रेम-कथा को आकाश में गुजा रहा हो और तारों भरी रात में लेट कर जीवन—विश्राम का सुख अनुभव करे। यौवन की अधीरता का चित्र भी कवि ने अंकित किया है :—

आह रे; कह अधीर यौवन!
मत्त मारुत पर चढ उद्भ्रान्त।
बरसने ज्यों मदिरा आश्रांत।
सिंधु बेला सी घन मंडली।
अखिल किरनों को ढँककर चली।
भावना के निस्सीम जगत में।
·बुद्धिचपला का अक्षय नर्तन।
चूसने को अपना जीवन।
चला था वह अधीर यौवन।

यौवन बरसाती बादलों का घटाटोप है, जो मादकता की वर्षा करता है। बुद्धि विवेक के प्रकाश को ढाँप देती है। भावना के आकाश मे कभी-कभी बिजली कि समान बुद्धि कौंध भर जाती है। तात्पर्य यह है कि यौवन भावना--प्रधान होता है-विवेक उसमें अधिक नहीं रहता। उस समय तो अधरों में प्यास और नयनों में मधुर दर्शनों की उत्कंठा भरी रहती है।

साथ ले सहचर सरस वसन्त,
चङ्क्रमण करता मधुर बसन्त;
गूंजता किलकारी निस्वन,
पुलक उठता मलय पवन।

"तुम्हारी आँखों का बचपन" में कवि की आँखों के बचपन का प्रतिबिंब है। आत्मानुभवों को लाक्षणिक ढंग से व्यक्त कर कवि ने छायावादी प्रवृत्ति को प्रश्रय दिया है। वाह्य प्रकृति—चित्रण में भी कवि ने छायावादी युग के अनुरूप मानवीकरण का सहारा लिया है।

बीती विभावरी जाग री!
अंबर पनघट में डुबो रही
तारा—घट ऊषा नागरी
खग कुल कल-कल सा बोल रहा
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु मुकुल नवल रस गागरी!

कोमल कुसुमों की मधुर रात के वर्णन में सजीवता है।

नक्षत्र कुमद की अलस माल,
वह शिथिल हँसी का सजल जाल-
जिसमें खिल उठते किरन पात।
कोमल कुसुमों की मधुर रात।

प्रभात के वर्णन में भी वही मानव-मूर्ति की आभा है।

"रजनी की लाज समेटो तो,
कलरव से उठकर भेंटो तो,
अरुणाचल मे चल रही बात,
जागो अब जीवन के प्रभात"

"वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे!" में वर्षा के बिम्ब के साथ कवि-जीवन का प्रतिबिम्ब मिल कर एक नयी झाँकी प्रस्तुत कर रहा है।

"प्राण पपीहा के स्वर वाली
बरस रही थी जब हरियाली
रस जल कण मालती मुकुल से
जो मदमाते गन्धविधुर थे

उस समय सावन के सघन घन कविकी आँखों की छाया मात्र थे। आँखों से जितने आँसू बरसे हैं, क्या सावन के बादलों से पानी की उतनी वर्षा हुई है?

"चित्र खींचती थी जब चपला;
नील मेघ पट पर वह बिरला;
मेरी जीवन - स्मृति के जिसमें—
खिल उठते वे रूप मधुर थे।"

माधवी संध्या के रूप से कवि के मन में उदासी भर जाती है। प्रकृति में कभी वह अपनी प्रेयसी की आभा देखता है और कभी उसके दृश्यों—व्यापारों से उसे

अपना गत-वैभव स्मरण हो आता है।

रहस्य-भावना की झलक हमें मुख्यत: एक कविता में मिलती है—

"हे सागर संगम अरुण नील।"

बिछुड़ी हुई आत्मा जब परमात्मा से मिलती है, तो दोनों ओर कितना उल्लास छाजाता है। भक्त अपने भगवान से मिल कर अपने अस्तित्व को उसीप्रकार खो देता है–जिस प्रकार नदी सरोवर में मिल कर "अकूल" बन जाती है।

"निज अलकों के अन्धकार में
तुम कैसे छिप जाओगे?"

में हम आदि से अंत तक "रहस्य-भावना" का समन्वय नही पाते।

वसुधा चरण-चिन्ह सी बनकर-
यहीं पड़ी रह जावेगी।
प्राची रज कुंकुम ले चाहे-
अपना थाल सजावेगी।"

में परोक्ष सत्ता के अवतरण की कल्पना की जा सकती है, पर

सिहर भरे निज शिथिल मृदुल—
अंचल को अधरों से पकड़ो।
बेला बीत चली है—
चंचल बाहुलता से आ जकड़ो—

में नारी–रूप कवि को अपनी अठखेलियों से लुभा रहा है। वास्तव में 'प्रसाद' यौवन, प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं। इन्ही में उन्होंने परमात्मा के दर्शन किये हे। इस चित्र मे आप चाहे तो परमात्म-सत्ता का मानवीकरण देख सकते हैं और चाहें तो मानवी रूप में परमात्म-सत्ता का आरोप कर सकते हैं। दूसरी क्रिया कवि की प्रवृत्ति के अधिक अनुरूप है। लहर में अनेक रचनाएं बाह्यात्मक (Objective) प्रतीत होती हे, परन्तु उनमे भी कवि की रागात्मक छाया देखी जा सकती है। "अरी वसुधा की शान्त कछार" उस दिन जब "जीवन के पथ में" और "जगती की मगलमयी उषा" मे बुद्ध भगवान से सम्बन्ध रखनेवाली भावनायें हे। अशोक की चिन्ता, शेरसिह का शस्त्र-समर्पण तथा प्रलय की छाया ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित हैं। शेरसिह के शस्त्र-समर्पण में द्वितीय सिक्ख-युद्ध में सिक्खों के पराजय की छल-पूरित करुण-गाथा है। १०—३—१८४९ में शेरसिह ने जनरल गिलबर्ट के आगे

हथियार डाल दिये थे। उसके साथ १८ हजार सिक्खों ने आत्म-समर्पण किया था। जब शस्त्रों का ढेर लग गया तो एक बूढ़े सिक्ख ने हथियार डालते हुए आँसू भर कर कहा था—

"आज रणजीतसिंह मर गया।"

कविने यह इतिहास-प्रसिद्ध उद्गार शेरसिंहके साथ जोड़ दिये है। श्री कन्हैयालाल सहल ने "आलोचनाके पथ पर" में पृष्ठ १६१ पर जो यह लिखा है कि "शेरसिंह का प्रयोग रणजीत सिंह के लिए ही हुआ जान पड़ता है" यह सर्वथा गलत है।

इसमें सन्देह नही "चिलियानवाला युद्ध" अंग्रेजों के लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ था। विलायत में उसने इतना आतक फैलाया था कि नेपोलियन को हरानेवाले सेनापति ड्यूक आफ वेलिगटन ने चार्ल्स नेपियर से कहा था कि "यदि तुम सिक्खों को दबाने नही जाते तो मै सेना लेकर जा रहा हूँ।" २१—२—४९ में गुजरात की लड़ाई मे सिक्खों की फौजें बुरी तरह हार गयी। लालसिंह रणजीतसिह की मृत्यु के पश्चात् विधवा पत्नी और नाबालिग पुत्र की देख-रेख के लिए वजीर का काम करता था। यह अंग्रेजोंसे लड़ा अवश्य, पर इस ढील ढाल के साथ कि जिसमे अग्रेज जीत कर, उसका उपकार मानें और उसे अपने पद स न हटाये। इसीलिए उसे पचनद का कलुष कहा गया है। 'प्रलय की छाया' में गुजरात की रानी कमला की आत्म-ग्लानि का चित्र है। अलाउद्दीन खिजली ने गुजरात के युद्ध में गुजरात के दो प्रसिद्ध सुन्दर व्यक्तियों को बन्दी बनाया था। एक थी रानी कमला और दूसरा था एक गुलाम माणिक। कहा जाता है कि माणिक ने जहर देकर अलाउद्दीन को मार डाला पर नूतन शोध से यह बात सिद्ध नही होती। हाँ, यह माणिक ही खुसरू बन कर राज्य करने लगा और इसने कमला के वध की आज्ञा दी। कमला अलाउद्दीन की स्त्री होकर रही थी और उससे उसे सन्तति भी हुई। उसने पद्मिनी का कोई आदर्श नही अपनाया। यही ग्लानि प्रलय की घटा मे करुण विलाप कर रही है। उदयपुर की बिछोला झील ही "पिशोला" है, जिसमें राणाप्रताप की प्रतिध्वनि मेवाड़ के वीरों को उद्बोधित कर रही है।

लहर की रचनाओं में कवि ने युग के अनुरूप अपने विषयों को चाहे वे स्थूल हों चाहे सूक्ष्म, आत्म-राग से रंजित कर दिया है। "आँसू" के अन्तिम पदो मे हम कवि को व्यापक क्षेत्र में अपनी करुणा को बिखरते देखत है, लहर मे यह प्रवृत्ति बराबर बढ़ती दिखाई देती है। इसीलिए "आँसू" तक जो समीक्षक, कवि को अपनी ही भावनाओं में उलझा हुआ पाकर झुंझलाहट से भर जाते थे—वे लहर में उसकी व्यापक सहानुभूति से संतोष व्यक्त करते हैं।

कामायनी

'कामायनी' 'प्रसाद' का अन्तिम ग्रंथ है, जिसे अपने युग का 'महाकाव्य' कहा जा सकता है। सुख–दुःख के साथ आँखमिचौनी खेलता हुआ जीवन अपनी पूर्णता को लेकर 'महाकाव्य' में उतरता है। कभी चढ़ता, कभी गिरता और कभी सँभलता हुआ वह अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। 'साहित्य–दर्पणकार' के अनुसार 'महाकाव्य' 'एक छन्द-बद्ध' रचना है, जिसमें आठ से अधिक सर्ग होते हैं; छन्द प्रति सर्गान्त में बदलता है और उसी से उसका अगला सर्ग प्रारम्भ होता है। उसका कथानक मार्मिक या पौराणिक होता है जो प्रारम्भ से अन्त तक शृंखला में जुड़ा रहता है; कथा की एक भी कड़ी टूट जाने से वह बिखर जाता है—उसका प्रवाह ही खंडित हो जाता है। महाकाव्य की अवान्तर कथाएं मुख्य कथा के विकास में सहायक सिद्ध होती हैं। इसमें प्रधान रस शृंङ्गार, वीर या शांत होता है; अन्य रस गौण रूप में आते

हैं। प्रकृति–वर्णन, संध्या, सूर्य, रात, चंद्रमा, पर्वत, ऋतु, अंधकार, दिवस, बन, समुद्र आदि संयोग–वियोग, युद्ध, यज्ञ, यात्रा, विवाह, अभ्युदय आदि का वर्णन होता है। नायक उत्तम कुल सभूत, धीरोदात्त क्षत्रिय या देवता होना है।

अरस्तू ने भी महाकाव्य (Epic) के तत्वों का निर्देश किया है। उसके मत से उसकी कथावस्तु (plot) में एकता (unity of plot) होनी चाहिए: उसमे एक आधिकारिक 'वस्तु' हो जो प्रारम्भ से अन्त तक शृंखलाबद्ध चलती रहे, प्रासगिक कथाएँ, मुख्य कथा की सहायक हों। पर, अरस्तू यह भी कहता है कि महाकाव्य की कथावस्तु की शृंखला यदि कुछ शिथिल भी हो तो कोई आपत्ति नही है क्योंकि उसमें कथा की नहीं, काव्य की प्रधानता होनी चाहिए। नायक के सम्बन्ध में अरस्तू और साहित्यदर्पणकार का एक ही मत है। वह भी उसका धीरोदात्त होना आवश्यक समझता है। 'रस' के सम्बन्ध में वह विशेष नहीं कहता। उसने पाठक या श्रोता की करुणा या भय की भावना को जागृत करना ही एपिक' और दुःखान्त नाटक का लक्ष्य माना है।

महाकाव्य में भाषा–सौन्दर्य को वह देखना चाहता है। उसमें रूपकों का होना वह आवश्यक मानता है। उसके मत से 'कथा' का विस्तार मनमाना किया जा सकता है और उसमें अद्भुत घटनाओं का समावेश भी हो सकता है।

द्विजेन्द्रलाल राय ने सभवत: अरस्तू की उक्त व्याख्या से ही प्रभावित होकर कहा है– " महाकाव्य एक या एक से अधिक चरित्र लेकर रचे जाते है। लेकिन, महाकाव्य में चरित्र–चित्रण प्रसग मात्र है। कवि का मुख्य उद्देश्य होता है उस प्रसग–क्रम में कवित्व दिखाना। महाकाव्य में वर्णन ही (जैसे प्रकृति का वर्णन, घटनाओं का वर्णन, मनुष्य की प्रवृत्तियों का वर्णन) कवि का प्रधान लक्ष्य होता है, चरित्र उपलक्ष्य मात्र होते है। महाकाव्य में घटनाओ की एकाग्रता या सार्थकता का कुछ प्रयोजन नहीं है। "

'साहित्य दर्पण' की व्याख्या की कसौटी पर यदि 'कामायनी' को कसा जायगा तो वह चमक नहीं सकेगी—खरी नही उतरेगी। 'कामायनी' ही क्यों; हिन्दी का कोई भी 'महाकाव्य' उसकी व्याख्या की सीमा में अपने को नहीं बाँध पाया।

कवि जब काव्य की सृष्टि करता है, तब वह किसी आचार्य की 'व्याख्या' पर अपने को केन्द्रित नहीं रखता। अत: 'काव्य'

की समीक्षा उसके 'काव्यक्षेत्र' में प्रविष्ट होकर—उसकी आत्मा में झाँक कर—ही की जा सकती है; बाहरी आकृति उसके मूल्यांकन का माप नहीं बन सकती।

सबसे पहिले हम कामायनी के कथानक को लेंगे। वह साहित्य-दर्पणकार की धारणा के अनुसार ही पौराणिक है—कवि के शब्दों में 'ऐतिहासिक' है। वह वैदिक साहित्य की बिखरी हुई सामग्री से चुना गया है। ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद्, भागवत आदि मे मनु का विभिन्न रूपों में उल्लेख मिलता है।

"जलप्लावन का वर्णन शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड से प्रारम्भ होता है; जिसमे मनु की नाव के उत्तर गिरि हिमवान प्रदेश मे पहुँचने का प्रसग है। वहाँ ओघ के जल का अवतरण होने पर मनु जिस स्थान पर उतरे उसे मनोरवसर्पण कहते है। श्रद्धा के साथ मनु का मिलन होने के बाद उसी निर्जन प्रदेश मे उजड़ी हुई सृष्टि को फिर से आरम्भ करने का प्रयत्न हुआ। ('ऋग्वेद' में श्रद्धा और मनु दोनों का नाम ऋषियों की तरह मिलता है। 'श्रद्धा' 'कामगोत्रजा'—काम गोत्र की बालिका—कही गई है।) असुर पुरोहित के मिल जाने से मनु ने पशुबलि की। इस यज्ञ के बाद मनु में जो पूर्व परिचित देव-प्रवृत्ति जाग उठी; उसने इड़ा के सम्पर्क मे आने पर उन्हे श्रद्धा के अतिरिक्त एक दूसरी ओर प्रेरित किया। ऋग्वेद में इड़ा को स्त्री, बुद्धि का साधन करने वाली और मनुष्य को चेतना प्रदान करने वाली कहा है। इड़ा के प्रति मनु का अत्यधिक आकर्षण हुआ; श्रद्धा से वे खिच गए। बुद्धि का विकास, राज्य की स्थापना इत्यादि इड़ा के प्रभाव से ही मनु ने किया, फिर तो इड़ा पर भी अधिकार करने की चेष्टा के कारण मनु को देवगण का कोप-भाजन बनना पड़ा। इस अपराध के कारण उन्हे दण्ड भोगना पड़ा।"

यद्यपि कवि कहते है कि उन्होंने कथा-शृंखला मिलाने के लिए कहीं कहीं थोड़ी बहुत कल्पना का भी सहारा लिया है, तो भी हम देखते हैं, कथावस्तु की 'ग्रंथि' शिथिल रह गई है। साहित्यदर्पणकार के अनुसार महाकाव्य का कथानक इतना अधिक संगठित होता है कि उसमें से एक भी पद्य के पृथक कर देने से उसमे अस्तव्यस्तता आ जाती है। पर कामायनी में एक ही पद्य क्यों, कहीं-कहीं पृष्ठ भी ओझल किए जा सकते है और कथा के टूटने का भय नहीं रहता। 'लज्जा' सर्ग यदि सर्वथा लुप्त भी हो जाय तब भी 'कामायनी' के

'प्रबन्ध' में बाधा नहीं उपस्थित होती। सच बात तो यह है कि कथा की क्रमबद्धता पर 'प्रसाद' ने ध्यान ही नहीं रखा। कथा की समाप्ति में भी त्वरा दीख पड़ती है। मनु-कुमार ने इड़ा की आँखों में समा कर सारस्वत देश का शासन किस क्रम से किया, विद्रोह का शमन कैसे हुआ, आदि प्रश्न जिज्ञासा ही बने रहते हैं। हम तो उन्हें इड़ा के साथ सहसा कैलाश की ओर प्रभावित मात्र देखते है; मानों वे भी जनरव मय संसार से त्राण पाने को व्याकुल हो उठे हैं।

कामायनी की 'कथा' में 'काम' के शाप ने उनमें गति प्रदान की है। 'मनु को अप्रत्याशित सकटों और व्यामोह की अवस्था मे पहुँचाने में मानो वही प्रच्छन्न होकर काम कर रहा था।

'इड़ा' की बिखरी अलकों में जब 'मनु' का मन उलझ गया तो वे यह भी भूल गए कि वह 'भावना' नही थी जो उनके माँसल अंगों पर 'बिछलने' वाले भावावेश को देखकर ही सिहर उठती; वह 'तर्कजाल' थी; शासित होना नहीं चाहती थी। इसीलिए—

"आलिंगन! फिर भय का क्रन्दन! वसुधा जैसे काँप उठी!
वह अतिचारी, दुर्बल नारी, परित्राण पथ नाप उठी!
अन्तरिक्ष में हुआ रुद्र हुंकार भयानक हलचल थी
अरे आत्मजा प्रजा! पाप की परिभाषा बन शाप उठी।"

मनु की इड़ा की ओर रुझान भी समाज की व्यवस्था को पलटने वाली थी। 'आत्मजा प्रजा' में केवल 'नारी' देखकर मनु के 'नर' ने ज्योंही 'आलिंगन' की शिथिल चेष्टा की, 'अन्तरिक्ष का दैवी कोप उन पर बरस पड़ा—'शिव' के तृतीय नेत्र से ज्वालाएँ फैलने लगी।

'काम' के 'शाप' ने कथानक में 'अशिवत्व' का प्रवेश नहीं होने दिया। 'मनु' का प्रत्येक कृत्य उसी की छाया से अभिभूत है, अतः क्षम्य है। 'श्रद्धा' के पुनर्मिलन के बाद से 'शाप' का प्रभाव हट जाता है और मनु की वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती है, उन पर स्वर्गीय पवित्रता छा जाती है।

श्रद्धा उनकी भीतरी आँखें खोल देती है; उन्हे त्रिपुर—इच्छा, ज्ञान और कर्मलोक—के दर्शन होते हैं। उनके सारे द्वन्द्वों का पर्यवसान हो जाता है। हृदय में आनन्द की ज्योति जगमगा उठती है। मनु के मन में विहँसने वाले 'शिव' उनके वातावरण—कैलाश की भूमि—में अपनी आभा विकीर्ण कर शान्ति की मधुवर्षा करने लगते हैं। सारी सृष्टि खिल उठती है, मानों आकाश का स्वर्ग उसी पर उतर आया है।

कामायनी की कथा की गति मन्थर भले ही हो पर उसके आदि और अंत में जो भव्यता है वह अपनी अलग ही विशेषता रखती है; यत्र-तत्र नाटकीय छटा से वह और भी आकर्षक बन गई है।

'सर्गों' की संख्या आठ से अधिक है पर सर्गान्त के छन्दों के परिवर्तन के बन्धन में कवि अपने को नहीं रोक सके।

मनु, श्रद्धा और इच्छा का 'सांकेतिक अर्थ' भी कवि को अभीष्ट है। मनु मन का प्रतीक, श्रद्धा उसके एक पक्ष 'हृदय' और 'इड़ा' उसके दूसरे पक्ष मस्तिष्क का प्रतीक है। मन 'श्रद्धा' की ओर जब झुक जाता है तब तर्क शून्य हो जाता है; जब वह 'इड़ा' (बुद्धि) को ही सब कुछ समझने लगता है, तो यंत्रवत् हो जाता है। उसका तोल तभी ठीक रहता है जब वह बुद्धि (इड़ा) और हृदय (श्रद्धा) दोनों का समन्वय करता है पर 'प्रसाद' ने अन्त में श्रद्धा (हृदय) की ही इड़ा (बुद्धि) पर श्रेष्ठता स्थापित की है। उनका विश्वास है कि मनुष्य 'बुद्धि' का परित्याग कर सकता है; 'हृदय' का नहीं। आत्मिक सुख की प्राप्ति 'श्रद्धा' द्वारा ही हो सकती है। 'बुद्धि' का उपयोग जीवन-संघर्ष में ही होता है। तर्क-वितर्क से आत्मा की शांति भंग होती है। इसीसे मनु पुकार उठते हैं—

"यह क्या! श्रद्धे! बस तू ले चल,
उन चरणों तक, दे निज सम्बल;
सब पाप पुण्य जिसमें जल जल,
पावन बन जाते हैं निर्मल;
मिटते असत्य से ज्ञान लेश,
समरस अखंड आनन्द वेश!"

श्रद्धा ही मनु को अन्त में उस आनन्द-लोक तक ले जाती है, जहाँ पहुँच कर कोई 'कामना' की ऐसी लहर उन्हें स्पर्श नहीं कर पाती जो विचलित बना दे। उनका मन उस मधुमती भूमिका में पहुंच जाता है जहाँ ममत्व का केन्द्र विशेष उसे खींच नहीं सकता। सर्वत्र एक ही भाव, एक ही रस वह अनुभव करने लगता है। सभी वस्तुएँ उसमें 'आनन्द' का संचार करती है। 'कबीर' के भाव में साधक 'अमिय रस' की वर्षा में निशिदिन भींगता रहता है।

'लहर' में भी कवि ने इसी प्रकार की काँक्षा व्यक्त की है। 'कोलाहल की अवनी' से त्राण पाने के लिए वह व्याकुल हो उठे हैं—

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक! धीरे धीरे।

जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।"

जिस गम्भीर मधुर छाया में—
विश्व चित्र-पट चल माया में—
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई
दुःख-सुख वाली सत्य बनी रे।

श्रम-विश्राम क्षितिज-बेला से—
जहां सृजन करते मेला से—
अमर जागरण उषा नयन से—
बिखराती हो ज्योति घनी रे!"

अपनी इसी भावना की कवि ने कामायनी में पूर्ण परिणति की है—रूपक के 'फ्रेम' में यही मनोवाञ्छा 'चित्र' के समान जम कर सँवर उठी है।

महाकाव्य में प्रकृति वर्णनों की भी आवश्यकता कही गई है।

कामायनी में प्रकृति मुसकुरा कर हर्ष-पुलक भी भरती है; तीखी भ्रूभंगियों से सहम का किकम्पन भी। पर, उसके दोनों रूपों में वैशिष्ट्य है; आस्वाद है।

'उषा', 'सुनहले तीर', 'बरसाती है', 'रात', विश्व-कमल की मृदुल मधुकरी है जो ससार मे मधुर रस की वर्षा करती है। समीर के मिस हाँफती 'किसी' के पास चली जा रही है—घबराई सी, सहमी सी मानो। 'रात-रानी' के प्रथम अभिसार की कल्पना कितनी मधुर है—

उसकी 'उज्ज्वलता' पर कवि की कल्पना हुलस उठती है—

" विकल खिलखिलाती है क्यों तू ?
इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर
तुहिन कणों, फेनिल लहरों में,
मच जावेगी फिर अंधेर।"

'चाँदनी रात' कितनी मादकता भर देती है, इसकी ओर कवि का इंगित है। जब रात में यत्र-तत्र मेघ आकाश में दौड़ते है तो चाँद झाँकता व छुपता सा दीख पड़ता है, मानो रात घूंघट में अपना सुन्दर मुखड़ा ढाँप लेती हो। कवि कहते हैं—

"घूँघट उठा देख मुसक्याती
किसे ठिठकती सी आती;
विजन गगन में किसी भूल सी
किसको स्मृति पथ में लाती।"

'चाँद', 'रजत कुसुम' सा है और उसकी 'चाँदनी' पराग सी। चारों ओर उसका छिटकना 'धूल' सा उडता प्रतीत होता है। ज्योत्स्ना का यह रूप इतना मादक है कि स्वयं 'रात' भूली सी लगती है। रात का यह मानवीकरण कितना सजीव होकर खिल उठा है! 'चाँदनी' की रजत कुसुम (चाँद) के 'नवपराग' से उपमा सम्भवतः हिन्दी में प्रथम बार ही दी गई है!

'तारों भरी' 'रात' का और भी चित्र देखिए—

"पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल,
देख, बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चंचल।
फटा हुआ था नील बसन क्या
ओ यौवन की मतवाली!
देख अकिंचन जगत लूटता
तेरी छवि भोली-भाली!"

हिमालय और कैलाश के वर्णन भी सप्राण है। 'प्रलय' की कल्पना भी भव्य है, भयानक है—

"धँसती धारा, धधकती ज्वाला,
ज्वाला-मुखियों के निश्वास;
और संकुचित क्रमशः उसके
अवयव का होता था ह्रास।"

यह सच है कि 'प्रसाद' की स्थायी प्रेममयी भावना नारी-चित्र को विस्मृत नहीं कर पाती। आकाश से शंपाओं का खंड-खंड होकर निपात हो रहा है। पृथ्वी भूकम्प से काँप रही है। कवि की कल्पना भयभीता रमणी की ओर दौड़ जाती है—

"बार बार उस भीषण रव से
कँपती धरती देख विशेष,
मानो नील व्योम उतरा हो
आलिंगन के हेतु अशेष।"

केवल प्रकृति का वर्णन मात्र 'प्रसाद' में कम मिलता है, वे तो उसे सजीव ही देख सकते हैं; मनुष्य की भावनाओं से उल्लसित या विषादमयी।

समुद्र-किनारे की अवशिष्ट थोडी सी 'धरती' का चित्र भी सुहाग रात की व्यथित स्मृति लेकर सिमटी बैठी 'वधू' के रूप में प्रस्तुत है —

"सिंधु-सेज पर धरा वधू अब
तनिक संकुचित बैठी सी;
प्रलय—निशा की हलचल स्मृति में
मान किये सी ऐंठी सी!"

'प्रसाद' जड़ को चेतन में और 'मानव' के रूप में देखने के अभ्यासी हैं। यही तादात्म्य–स्थापन की विह्वलता उनकी रहस्यमयी प्रवृत्ति की द्योतक है! 'रहस्यवादी' भी क्या चाहता है? वह जड और चैतन्य की दुविधा ही मिटा देना चाहता है!

प्रकृति के अतिरिक्त 'प्रसाद' ने अन्य स्थितियों के भी रम्य चित्र अंकित किए हैं। मनु विशाल लम्बा पुरुष है —

"अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ,
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार;
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का
होता था जिसमें संचार।"

मनु के पौरुष-प्लावित दृढ शरीर से जो सौरभ बहता था* उसी ने, श्रद्धा' को अपनी हस्ती खोने को विवश किया। स्त्री का आकर्षण उसी पुरुष के प्रति दृढ़ता धारण करता है, जिसमें पौरुष हो और परुषता भी।

गर्भवती स्त्री का चित्र भी अद्वितीय है। श्रद्धा का महापर्व (प्रसव-काल) समीप आ रहा है। ज़रा उसकी ओर निहारिए तो—

"केतकी गर्भ सा पीला मुँह,
आँखों में आलस भरा स्नेह;
कुछ कृशता नई लजीली थी
कंपित लतिका सी लिये देह!"
"मातृत्व बोझ से झुके हुए
बँध रहे पयोधर पीन आज।"

* हठयोग की पुस्तकों में कहा गया है कि स्वस्थ शरीर के प्रस्वेद से मतवाली गंध बहती है जो आकर्षण की शक्ति रखती है।

चिन्ता, लज्जा आदि मनोविकारों की भी अभिव्यक्ति अच्छी हुई है। चिन्ता का जन्म अभाव से होता है और जब वह तीव्र हो जाती है तो ललाट पर टेढ़ी रेखाओं के रूप में व्यक्त होती है। उसी से व्याधि–आधि का सूत्रपात होता है! 'लज्जा' के स्वरूपों का कवि ने बहुत ही निकटतम अध्ययन किया है।

"छूने में हिचक, देखने में
पलकें आँखों पर झुकती हैं;
कलरव परिहास भरी गूँजे
अधरों तक सहसा रुकती हैं॥"
मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ
मैं शालीनता सिखाती हूँ
मतवाली सुन्दरता पग में
नूपुर सी लिपट मनाती हूँ।
लाली बन सरल कपोलों में
आँखों में अंजन सी लगती;
कुंचित अलकों सी घुंघराली
मन की मरोर बन कर जगती।"

कवि ने 'लज्जा' के विषय में ठीक ही कहा है कि वह सदा हृदय में अतृप्ति की प्यास जगाए रहती है और वही 'अतृप्ति' जीवन को अन्त तक सरस बनाए रहती है।

'सत्य' की परिभाषा कवि ने कितनी युक्तिसंगत की है।

"और सत्य! यह एक शब्द तू
कितना गहन हुआ है;
मेधा के क्रीड़ा–पिंजर का
पाला हुआ सुआ है।"

मनुष्य अपनी ही इच्छा को सत्य सिद्ध कर लेता है। वास्तव में अमुक ही सत्य है, यह कहना कठिन है—

"सब बातों में खोज तुमारी
रट सी लगी हुई है;
किन्तु स्पर्श से तर्क करों के
बनता 'छुई मुई' है।"

अंतर्वृत्तियों का चित्रण भी कई स्थानों पर बड़ा आकर्षक है।

मनु श्रद्धा को पाकर संसार में कुछ पाना नहीं चाहते, पर श्रद्धा मनु की हिंसा प्रवृत्ति से खिन्न हो अलग जा बैठी है। मनु सोचने लगते हैं—

" जिसमें जीवन का संचित सुख
सुन्दर मूर्त्त बना है!
हृदय खोल कर कैसे उसको
कहूँ कि वह अपना है?"

उन्मुक्त हृदय से मनु 'श्रद्धा' को अपनी कहने में इसीलिए झिझकते हैं कि श्रद्धा के मन का तादात्म्य उनके मन से पूर्ण रूप से नहीं होने पाया। 'श्रद्धा' के मन की उलझन भी दर्शनीय है।

उसके हृदय में मनु के प्रति अनुरक्ति है, जिसमें रति और प्रेम दोनों का समावेश है। रति वह भाव कहलाता है जो शरीर पर मँडराना चाहता है और प्रेम वह मानसिक भावना है जो व्यापक है। 'श्रद्धा' ने 'मनु' के विशाल वक्षस्थल और तेजपूर्ण 'शरीर' पर स्वयं आत्म-समर्पण कर दिया। चेतना के क्षणिक 'स्खलन' को वह प्रमाद समझती है फिर भी जब 'मनु' की आँखों में मतवाली छलकन उसे दीख पड़ती है तो वह अपना तर्क खो देती है, उसकी पलकें नशीली बन झपने लगती हैं। वह मनु की भुजाओं में अपने को सौंप देती है, स्वयं खो जाती है। फिर वह यह नहीं सोचती—

" कितना दुःख जिसे मैं चाहूँ
वह कुछ और बना हो;
मेरा मानस चित्र खींचना
सुन्दर सा सपना हो।"

फिर तो वह स्वयं अपने को समझा लेती है:—

जिसके हृदय सदा समीप है
वही दूर जाता है,
और क्रोध होता उस पर ही
जिससे कुछ नाता है।"

कभी मनुष्य के मुख से भावी सत्य बोल उठता है। श्रद्धा मनु के साथ मादक लहरों में बहते समय कह उठती है—

" कल ही यदि परिवर्त्तन होगा
तो फिर कौन बचेगा;
क्या जाने कोई साथी बन
नूतन यज्ञ रचेगा ! "

हम देखते हैं ' मनु ' श्रद्धा को छोड कर चले जाते हैं और ' इडा ' के साथ नया जीवन--यापन करते हैं; यद्यपि ' इडा ' को सर्वथा अपनाने में वे समर्थ नहीं होते। जब शारीरी प्यास विह्वल हो उठती है, व्यक्ति अपने अस्तित्व को भूल तो नही जाता,पर भूलने की घोषणा अवश्य करता है। पुरुष की आँखों में उस क्षण स्त्री अत्यधिक रूपमयी हो जाती है। 'मनु' के मन में जब वासना लहर उठती है, वे श्रद्धा को लक्ष्य करते हैं—

" कहा मनु ने तुम्हें देखा अतिथि ! कितनी बार:
किन्तु इतने तो न थे तुम दबे छबि के भार ! "

और भी—

" तुम समीप, अधीर इतने
आज क्यों हैं प्राण ?
छक रहा है किस सुरभि से
तृप्त होकर घ्राण ? "

मनु वासना से उन्मत्त होकर ' श्रद्धा' को सबसे अधिक सम्मान देने को प्रस्तुत हैं—

" आज ले लो चेतना का यह समर्पण दान।
विश्व रानी ! सुन्दरी ! नारी जगत की मान ! "

पुरुष स्त्री का सर्वस्व हरण करना चाहता है। अतः उसकी चाटु-कारिता भरी आतुरता देखिए। कितनी त्वरा में वह उसे एक साथ ही तीन तीन सम्बोधनों से आत्मविभोर बनाना चाहता है—प्रसन्न पुलक से भर देना चाहता है।

विश्व रानी ! सुन्दरी !! नारी जगत की मान !!!

बेचारी नारी, भोली नारी, कोमल नारी ! इतने शब्द-माधुर्य का भार कब तक वहन करती ?

" स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदंब सा था भरा गद्गद बोल।"

फिर तो 'प्रसाद' उसे चेतना के द्वार पर ले जाकर इस निष्ठुर सत्य का उद्घाटन उसके मुख से ही कराते हैं—

"किन्तु बोली क्यों समर्पण आज का हे देव!
बनेगा चिर-बंध नारी हृदय हेतु सदैव!
आह मैं दुर्बल, कहो क्या ले सकूंगी दान!
वह, जिसे उपभोग करने में विकल हों प्रान?"

कवि ने श्रद्धा और मनु का मनोवैज्ञानिक ढंग से नारी और पुरुष के रूप में मिलन कराया है। एक बार पुरुष के आगे आत्मसमर्पण कर देने पर स्त्री अपनी सत्ता पुरुष से पृथक् नहीं रख सकती। तभी 'श्रद्धा' 'लज्जा' से कहती है—

"मैं जभी तोलने का करती
उपचार स्वय तुल जाती हूँ;
भुज लता फँसा कर नर तरु से
झूले सी झोंके खाती हूँ।"

मैं जब अपने को सँभालने का प्रयत्न करती हूँ तो स्वयं बेसँभाल बन जाती हूँ। वह अनुभव करने लगती है कि मुझे तो केवल उत्सर्ग ही करना है। उसका प्रतीकार पाने की आशा मुझे नहीं करनी चाहिए। यही बात 'काम' ने भी मनु से कही है—

"मनु! उसने तो कर दिया दान,
वह हृदय प्रणय से पूर्ण सरल जिसमें जीवन का भरा मान;
जिसमें चेतना ही केवल निज शान्त प्रभा से ज्योतिमान।"

लज्जा तभी कहती है—

"नारी! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल में;
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में।"

सुख-दुःख, पाप-पुण्य सभी को हँसते-रोते नारी सहती है। श्रद्धा की

प्रसाद ने सहृदयता, और सात्विकता के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है—

"रुक जा, सुन ले ओ निर्मोही !
वह कहती रही अधीर श्रान्त।"

स्वप्न में वह 'निर्मोही' को इड़ा के प्रति आकर्षित देखती है पर ज्योंही संकट में घिरा देखती है तो विकल हो जाती है, खोज में निकल पड़ती है और 'इड़ा' से पता पा लेती है। 'इड़ा' के कारण ही उसके 'निर्मोही' की दुर्गति हुई। अतः खीझकर कहती है—

"सिर चढ़ी रही ! पाया न हृदय,
तू विफल कर रही है अभिनय।"

श्रद्धा के इस कथन पर आपत्ति उठाते हुए स्वयं पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था—"श्रद्धा इड़ा से कहती है कि 'सिर चढ़ी रही पाया न हृदय।' क्या श्रद्धा के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता 'रस पगी रही पाई न बुद्धि।' जब दोनों अलग-अलग सत्ताएं करके रखी गई है तब एक को दूसरी से शून्य कहना और दूसरी को पहिली से शून्य कहना गड़बड़ में डालता है।" पर श्रद्धा ने मन की जिस अवस्था में 'इड़ा' को उलाहना दिया उससे कोई गड़बड़ी नहीं पैदा होती। "कामायनी" केवल मनोवृत्तियों पर लिखे गये निबन्धों का संग्रह नहीं है। वह प्रबन्ध-काव्य है, कथा को लेकर चलने वाला, जिसमें कवि ने चरित्र-चित्रण का भी थोड़ा बहुत विचार रखा है। श्रद्धा के उक्त कथन से भी इड़ा और श्रद्धा के प्रकृति-भेद में कोई शका नही होती। मनुष्य किसी का स्वभाव जान कर भी तो विषम परिस्थिति में—ऐसी परिस्थिति में जिसके निर्माण में उसका हाथ है, उसे उसकी अनिष्टकारी प्रकृति पर भला-बुरा कहता है, इड़ा को तर्क की लहरें 'गिनने वाली" जानकर भी श्रद्धा अपने आवेग को बहुत स्वाभाविक रीति से प्रकट करती है—

"सिर चढ़ी रही पाया न हृदय।"

इड़ा 'बुद्धि' का प्रतीक होकर भी 'नारी' है, वह पुरुष की वासना के वेग में बहती नही है, पर एक बार उसका हृदय अपनी निष्ठुरता पर 'धक्-धक्' भी करने लगता है। उसकी अन्तर्वेदना उसके श्रद्धा को कहे गए इन शब्दों से प्रकट होती है—

"तिस पर मैंने छीना सुहाग हे देवि ! तुम्हारा दिव्य-राग;
मैं आज अकिंचन पाती हूँ अपने को नहीं सुहाती हूँ;
मैं जो कुछ भी स्वर गाती हूँ, मैं स्वयं नहीं सुन पाती हूँ।"

वह मन ही मन अनुभव करती है कि उसकी निष्ठुरता ने ही 'मनु' को विक्षिप्त बना डाला है। जब मनुष्य अपने कृत्यों पर ग्लानि से भर जाता है तो वह 'अपने को ही नहीं सुहाता !' 'घृणा से ममता' की उलझन भरी चिन्तन में उसकी न जानें कितनी रातें बीत चुकी हैं। नारी का ही तो वह हृदय था जिसमें 'सुधा-सिंधु' लहरें लेता है और बाड़व ज्वाला भी जलती है। उसमें 'क्षमा और प्रतिशोध'—दोनों की माया नृत्य करती है। प्रेम वहीं अपराध बन जाता है, जब वह सभी सीमाओं को तोड़ने के लिए मचल उठता है। 'मनु' को इस सीमोल्लघन-चेष्टा के लिए कष्टों की भट्टी में जलना पड़ा।

'श्रद्धा' में 'इड़ा' के प्रति खीझ-रोष का भाव है, ईर्ष्या का नहीं। 'श्रद्धा' का सचमुच आदर्श चरित्र है। उसमें भारतीय नारीत्व का उज्ज्वलतम रूप देदीप्यमान हो रहा है। 'श्रद्धा' अपने सौम्यकुमार को 'इड़ा' को सौप देती है; और आशा करती है कि दोनों के सम्मिलन से मानव का भाग्योदय होगा। 'इड़ा' श्रद्धा के इस प्रस्ताव को शीघ्र स्वीकार कर लेती है और मनु के 'कुमार' के साथ उसका तादात्म्य हो भी जाता है।

'मनु' के चरित्र के सम्बन्ध में हम पहले किसी प्रकरण में लिख चुके हैं। वे 'आदर्श' पुरुष नहीं हैं, उनमें नैतिक बल की कमी है, परिस्थिति से प्रभावित हो जाना उनका स्वभाव है। उनकी ईर्ष्या अस्वाभाविकता की पराकाष्ठा तक पहुँच गई है। आदि पुरुष की दृढ़ता और नेतृत्व का उनमें अभाव है; 'स्त्री' के इशारों पर थिरकना भर वे जानते हैं; उनमें स्वयं कर्तव्य-शक्ति नहीं है। वे स्वयं स्वीकार करते हैं —

"साहस छूट गया है मेरा। निस्संबल भग्नांश पथिक हूँ

....

लौट चलो इस वात-चक्र से मैं दुर्बल अब लड़ न सकूँगा।"

श्रद्धा ही उनमें बल और साहस बढ़ाती है। कवि ने 'पुरुष को स्त्री के बिना सर्वथा विरालम्ब, निराश्रय बतलाया है। स्त्री को सर्वशक्तिमयी स्फूर्ति-प्रतिमा और पुरुष के आधार से स्वतंत्र चित्रित किया है। इसमें स्त्री के गौरव की उच्च स्वर में घोषणा भले ही सुन पड़े, पर वास्तविकता इसी में है 'समरसता' इसी में है, कि जिस प्रकार पुरुष स्त्री के बिना अपूर्ण है उसी प्रकार स्त्री पुरुष के बिना पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकती। प्रसाद' ने चित्र के एक ही भाग में गहरा रंग भर कर स्त्री को सर्वगुण सम्पन्ना दिखा कर तुला की डाँडी को एक ओर ही झुका दिया है।

यह चर्चा हमने मनु, इड़ा और श्रद्धा के वर्णित आख्यान को दृष्टि में रख कर की है। उनके साकेतिक रूप पर विचार करने से मनु 'श्रद्धा' और 'इड़ा' दो अग है— दूसरे शब्दों में क्रमशः भावना और बुद्धि। सांसारिक संघर्ष में 'भावना' का नही; 'बुद्धि' का सहारा लेना पडता है, पर जहाँ आत्मिक उत्कर्ष की कामना है, वहाँ बुद्धि का सर्वथा परित्याग किया जा सकता है; केवल श्रद्धा—भावना ही हमें सुख लोक में ले जा सकती है। श्रद्धा से हम सहज विश्वासी बन जाते है।

कामायनी में 'दर्शन'

'कामायनी' में मानव-जीवन का सनातन सत्य भी अभिव्यक्त हुआ है। आध्यात्मिक साधना मनुष्य की वासनाओं की तृप्ति के पश्चात् ही संभव होती है—सफल होती है। प्रारम्भ ही में ससार से एकदम आँख मूँद कर 'भीतर का रहस्य' नही दिखाई पड़ता। 'बाहर' आँख खोल कर देख चुकने पर ही अन्तर के पट खुलते है और 'शिव' के 'दर्शन' होते हैं। 'प्रसाद' ने अपने साहित्य में यत्र–तत्र 'समरसता' का उल्लख किया है। यह शैवदर्शन का शब्द है।

शैवदर्शन 'अद्वैतवाद' से दूर नहीं है। 'आगम' में 'अद्वैत' का अर्थ दो का वित्य सामरस्य है।

एक शास्त्रकार कहते है—

"इति वायस्य संवित्तिः क्रीडात्वे नाखिलं जगत्।
संपश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः॥"

'जीवन्मुक्त' जगत भर को ही आत्मविलास के रूप में देखते हैं; उनकी योगावस्था कभी भग्न नहीं होती। भेद और अभेद, व्युत्थान और निरोध दोनों के अन्दर साम्यदर्शन होने पर और कोई आशंका नहीं रह जाती। क्योंकि दोनों एक ही के दो प्रकार है। इसी को शिवशक्ति का सामरस्य या चिदानन्द की प्राप्ति कहते है। यही 'ईश्वराद्वयवाद' की विशिष्टता है। यह न तो शुष्क ज्ञानमार्ग है और न ज्ञानहीन भक्तिमार्ग ही—इसमें ज्ञान और भक्ति दोनों का सामञ्जस्य है। चिदंश ज्ञान भाव है और आनन्दांश भक्ति है। परमतत्त्व स्वातंत्र्यमय है, स्वतंत्रता ही पूर्ण शक्ति है। इसी कारण इस मत में चरमावस्था में भी शिवशक्ति का सामरस्य माना गया है। शिव और शक्ति अभिन्न है। 'कामायनी' में शंकर का वह 'अद्वैत' नहीं है जो 'जगत को मिथ्या' मानता है। उसे 'भोग्य' वस्तु माना गया है। कवि अपने 'मैं' को जगत् के साथ 'एक'

कर देने को आतुर है। अद्वैतवादी ज्ञान के द्वारा परम तत्त्व को प्राप्त करना चाहता है, 'प्रसाद' प्रेम, श्रद्धा या भक्ति द्वारा। प्रेम, श्रद्धा या भक्ति का मार्ग 'आनन्द' का है। 'प्रसाद' ने कामायनी में ज्ञान और भक्ति दोनों की समरसता प्रस्थापित की है। अतः प्रसाद का 'आनन्द-वाद अद्वैतवाद की अपेक्षा प्रत्यभिज्ञादर्शन के ईश्वाद्वयवाद' के अधिक निकट है।

कामायनी में कोई 'शक्ति' की प्रधानता इसलिये मानते है कि शक्ति की प्रतीक 'श्रद्धा' से ही मनु को परम तत्व आनन्द की प्राप्ति होती है पर जब शिव और शक्ति अभिन्न हैं तब 'शिव' की प्रधानता या 'शक्ति' की प्रधानता–दोनों समान हैं। श्रद्धा स्वयं 'आनन्द' है और 'शिव' आनन्दमय है। शैवागमों में जगत से विमुखता नही दिखलाई गई है, शक्ति जिस प्रकार उसका पूर्णोपभोग करती है, उसी प्रकार 'कामायनी' में 'भोग–तत्व' का समादर पाया जाता है। जीवन के व्यवहार–पक्ष से ही वे आदर्श तक पहुँच सके हैं। अतः उनका जीवन-दर्शन किसी एक ही "शास्त्र" की परिभाषा में नहीं सिमट सका। ईशावास्योपनिषद् के ऋषि के समान उन्होने जगत के सभी तत्वो मे भगवान् की सत्ता अनुभव की, उन्हें 'भोग'–'आनन्द' का साधन माना। इस तरह जीवन को आनन्दमय बनाना ही उनका 'दर्शन' है। 'श्रद्धा' का सम्पर्क 'आनन्द' का स्रोत प्रवाहित करता है। जब 'श्रद्धा' गर्भवती होने पर अपने 'पुत्र' के स्वप्न में भूलने लगती है, तब मनु को अपने 'आनन्द' का रस सूखता दिखाई देता है। वे 'आनन्द' की खोज में भाग निकलते है और सारस्वत प्रात में 'इड़ा' के सान्निध्य में उसे खोजना चाहते है। और जब 'इड़ा' से भी उन्हें 'आनन्द' नही मिलता तो वे मर्माहत हो जाते हैं और वहाँ से भी भाग जाते हैं। अन्त में श्रद्धा के सहारे व परमानन्द की प्राप्ति करते हैं। इस तरह कामायनी में 'आनन्द ही जीवन है और जीवन ही आनन्द' का सिद्धान्त प्रतिपादित लक्षित होता है। पर 'प्रसाद' का भोग या आनन्दवाद समाज में विशृङ्खलता उत्पन्न करने वाला नही है। 'इड़ा' पर मनु के बल–प्रयोग की चेष्टा से जो हाहाकार मचा उसने 'मनु' को उस 'आनन्द' से वंचित कर दिया जिसे पाने का उन्हें सामाजिक अधिकार नहीं था। इस प्रकार 'प्रसाद' का आनन्दवाद उपभोग में असीम होते हुए भी लोक–मर्यादा की सीमा स्वीकार करता है। वह समाज में समरसता की प्रतिष्ठा कर जीवित रहना चाहता है, जिसमें विरोध तिरोहित हो जाता है और सभी पहचाने से लगते हैं।

हिन्दू–शास्त्र 'मृत्यु' को ही जीवन का अन्त नहीं मानते, जीवन तो अनन्त है–'महाप्रलय' की चिता में जब कुछ 'अन्त' हुआ सा दीखता है, जीवन की किरणें रह रह कर मुसकुरा उठती हैं। 'शिव' को संहारक कहा गया है पर उनकी पूजा 'लिंग' के रूप में की जाती हैं–दूसरे शब्दों में वे संहारक ही नहीं, 'स्रष्टा' के भी प्रतीक माने जाते हैं। उन्हें 'नटराज' भी कहा जाता है।

रोनेल्ड्से ने लिखा है– To the Indian Natraj is the plastic presentation of whole philosophy, the whirl of the dance is the energy of the Universe." तांडवनृत्य में विश्व की गति–स्फूर्ति–ही साकार हो उठी है। Ideal of Hinduism में पं. काशीनाथ लिखते हैं—" Behind this whirl of plastic circumstance, the ebb and flow of changing creation, there is peace at the heart of it all. Death may be levying its horrid toll, new life may come only through pain and tribulation and the whole of life may be as unstable as water on the leaf, but behind these all is the peace of God—all is well with the World. Sheo is on his Kailash amidst the silence of the pure snows, sitting absorbed in the ecstatic calm of Samadhi. Both he and Vishnu asleep on the Shesh Nag, convey the assurance that "Anand" and peace are at the beginning and at the end of creation, and so consequently peace must also in reality be at the heart of this tumultuous ocean of life."

(इस परिवर्तनशील विश्व के चढ़ाव-उतार में संघर्षमय परिस्थिति के पीछे एक प्रकार की शांति का आवास रहता है। मृत्यु अपनी भयंकरता का भले ही प्रदर्शन करे, नवजीवन अनेक संकटों-कष्टों के पश्चात् ही आँखें खोले, समस्त जीवन कमल-पत्र पर जलबिंदु के समान भले ही अस्थिर हो, परन्तु इन सबके पीछे परमात्मा की परम शांति छिपी हुई है, जिससे संसार की प्रत्येक हलचल में शिवम् का ही भाव अन्तर्हित रहता है। शिव हिमाच्छादित कैलाश पर विराज रहे हैं—समाधि ही में डूबे हुए हैं। शिव और विष्णु यह विश्वास

दिलाते हैं कि आनन्द और शांति सृष्टि के आदि और अन्त दोनों में रहते हैं। अतएव इस हहरानेवाले जीवन-समुद्र के तल में भी सचमुच शांति का ही वास है।)

शिव की दृष्टि में कोई वस्तु अशिव (बुरी) नहीं है। विष भी उनके ओठों में अमृत बन जाता है। नरमुडमाल, सर्प आदि भयोत्पादक वस्तुओं से उन्हे चाव है।

शिव से आत्मा का मिलन कब होता है ? इस प्रश्न का उत्तर पार्वती का पौराणिक आख्यान दे देता है। शैल-नन्दिनी शिव से मिलने के लिए व्याकुल थीं। अत: उन्होंने एकनिष्ठ हो अनेक संकटों को सह कर उनके प्रति अपनी भावनाओं को केन्द्रित किया और उन्होंने सिद्ध कर दिया कि प्रेम, श्रद्धा और भक्ति से ही 'शिव' रीझते हैं।

'पार्वती' को आत्मा का प्रतीक माना जा सकता है और शिव तो चिर आनन्द स्रोत परमात्मा के स्वरूप हैं ही। शिव के पाँच रूप हैं—१–संहारक, २–स्रष्टा, ३–मायायोगी दिगम्बर, ४–मंत्रविद् ऋषि, ५–नटराज।

'कामायनी' में 'शिव' के पाँचों रूपों के दर्शन होते हैं—

'मनु' के इड़ा के प्रति किए गए अत्याचार से 'रुद्र-नयन' खुल जाता है। वसुधा काँप उठती है—

"प्रकृति त्रस्त थी, भूतनाथ ने,
नृत्य विकम्पित पर अपना!
उधर उठाया, भूत सृष्टि सब,
होने जाती थी सपना।"

यह उनका संहारक रूप है। स्रष्टा का रूप 'कर्म' में इङ्गित किया गया है—

"नील गरल से भरा हुआ
यह चन्द्र कपाल लिए हो;
इन्हीं निमीलित ताराओं में
कितनी शांति पिये हो।
अखिल विश्व का विष पीते हो
सृष्टि जियेगी फिर से;
कहो अमर शीतलता इतनी
आती तुम्हें किधर से?"

अचल अनन्त नील लहरों पर आसन मार कर बैठे हुए देव 'माया योगी दिगम्बर' ही हैं। मंत्रब्दि ऋषि का रूप उनका 'कैलास' पर दिखाई देता है,

जहाँ मनु अपनी साधना में लीन हो सत्य-ज्ञान को प्राप्त करने में रत रहते हैं। 'दर्शन' में मनु ने 'नर्तितनटेश' को देख कर ही चेतना खो दी और वे श्रद्धा को पुकार उठे थे—

"यह क्या ! श्रद्धे ! बस तू ले चल
उन चरणों तक, दे निज संबल।"

पीड़ा, संघर्ष और मृत्यु में ही नवजीवन छिपा हुआ है, शान्ति मुसकरा रही है, यह महान शिव तथ्य 'कामायनी' में हमें मिलता है। प्रलय के ताण्डव में ही नवजीवन और नव सृष्टि के अंकुर शेष थे—वे थे 'मनु' और 'श्रद्धा'। हम देखते हैं, सृष्टि के 'अंत' में प्रलय के पूर्व ही—'आनन्द' की क्रीड़ा थी और सृष्टि के प्रारम्भ में भी 'आनन्द' श्रद्धा के रूप में मनु के जीवन में बरस उठता है। जीवन का मध्य संघर्षों में बीतता है पर जब उसकी संध्या आने को होती है तो फिर एक बार स्थायी 'आनन्द' मनु के जीवन में छा जाता है और वह 'शिवरूप' हो जाते हैं।

जिस आनन्दमय वातावरण की सृष्टि करती हुई कामायनी की इति होती है वह हमारे मन में चिरशांति की उद्भावना करती है। 'मनु' का मन 'शांति' का आश्रय है, 'शिव' उसका आलम्बन और 'कैलास' का रूप जिसमें 'पुरुष' पुरातन स्पंदित सा मानसी गौरी लहरों का कोमल नर्तन देखता है, शांत भाव को उद्दीप्त कर रहा है। हमारे हृदय से शांत रस झर उठता है। हम भीतर ही भीतर भीग उठते हैं।

श्री इलाचंद्र जोशी के शब्दों में "कामायनी" की रचना मानवात्मा की उस चिरन्तन पुकार को लेकर हुई है जो आदि काल से चिर अमर आनन्द और चिर अमर शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा से व्याकुल है। इस घोर अहम्मन्यता पूर्ण दुर्दम आकाक्षा की चरितार्थता के प्रयत्न में मानव को जिन संकट-संकुल गिरि-पथों, जिन जटिल जाल जड़ित गहन अरण्य प्रान्तरों तथा घोर अंधकाराच्छन्न कराल रात्रियों का सामना करना पड़ता है, उनके संघात की वेदना 'कामायनी' में बिजली के शब्द से कड़कती हुई बोल उठी है।"

कामायनी में कवि का युग

कवि यद्यपि अपनी कृति के वर्णित युग का ही चित्रण करता है तो भी प्रसंगवश अनजाने वह अपनी युग-धारणाओं को भी झलका देता है।

'कामायनी' में भी हम अपने युग के संघर्ष को देख सकते हैं। यह बुद्धिवादी-युग कहा जाता है जिसके सम्बन्ध में 'प्रसाद' 'कामायनी' की भूमिका में कहते हैं—

"बुद्धिवाद के विकास में, अधिक सुख की खोज में दुःख मिलना स्वाभाविक है।" सारस्वत प्रांत का ध्वंस इसी धारणा का समर्थन करता है। 'इड़ा'–सर्ग में काम का शाप ही मानों आज की युग-स्थिति-निर्माण में कारणीभूत हो रहा है। 'काम' की भाषा में कवि ने अपनें युग की अवस्था को रख ही नहीं दिया है, उसके भावी अनिष्टकारी परिणाम की ओर भी स्पष्ट संकेत कर दिया है। विज्ञान की ज्यों ज्यों प्रगति होती जाती है, मानव के परस्पर सम्बन्ध शिथिल होते जाते हैं। 'स्वप्न' सर्ग में मनु ने यही अनुभव किया—

'यह विज्ञानमयी अभिलाषा, पंख लगाकर उड़ने की।
वर्गों की खाई बन फैली, कभी नहीं जो जुड़ने की।'

मनुष्य' निज बुद्धि-विभव से भ्रात' हो रहे हैं और उनका सारा 'जीवन युद्ध बन गया है।'

कोलाहल के जग से त्राण पाने का मार्ग है, हृदय में 'श्रद्धा' की स्थापना। कवि ने प्राचीन भारतीय पद्धति के अनुसार 'तीर्थ'-यात्राओं के महत्व और आश्रम-जीवन की जो प्रकृति की रम्यता के बीच सौरभित होता था, प्रतिष्ठा की है। पूर्वजों के प्रति अपनी कृतज्ञता अर्पित करने की प्रवृत्ति के विस्मृत हो जाने से ही हम अपनी संस्कृति से अनभिज्ञ हो रहे हैं। आनन्द-सर्ग में सारस्वत के मनु-धाम-यात्री अपने रिक्त जीवन-घटों को आध्यात्मिक पीयूष-सलिल से भरने को आतुर दिखाई देते हैं। सामूहिक यात्राओं में परस्पर सौहार्द्र बढ़ता है, समरसता पैदा होती है!

जीवन सारा बन जाय युद्ध
उस रक्त अग्नि की वर्षा में बह जाँय सभी जो भाव शुद्ध
अपनी शंकाओं से व्याकुल तुम अपने ही होकर विरुद्ध
अपने को आवृत्त किये रहो दिखलाओ निज कृत्रिम रूप
वसुधा के समतल पर उन्नत चलता हो दंभ स्तूप
....
सारा प्रपंच ही हो अशुद्ध।" (इड़ा-सर्ग)

अवकाश के समय श्रद्धा का अपनी तकली पर यह गुनगुनाना—

"चल री तकली धीरे धीरे
प्रिय गये खेलने को अहेर।"

आज के गाँधीवाद के स्वावलम्बन-मार्ग का हमें स्मरण करा सकता है, यों यह प्रथा मनु-काल का ही चित्रण है। गांधीवाद में यन्त्र, हिंसा, वर्णभेद, सामन्तशाही शासन आदि सभी का निषेध है और कामायनी में भी इनकी भर्त्सना है; आज 'नारी' की सत्ता सर्वमान्य है। कामायनी में मनु का 'नारी' के आगे आत्म-समर्पण भी क्या है? पर नारी को बलशालिनी और स्वतन्त्र दिखाते हुए भी कवि ने उसे कहीं 'स्वच्छन्द' नहीं बनाया। पुरुष का मन चंचल हो सकता है, पर नारी अखंड निष्ठावती, अपने भाव पर स्थिर ही चित्रित की गई है। मनु के अकारण परित्याग पर भी श्रद्धा मनु का ही स्वप्न देखती है। 'प्रसाद' चाहते तो आदिमयुग की प्रवृत्तियों के अनुसार श्रद्धा का मन और कहीं रमा सकते थे पर कलाकार फोटोग्राफर नहीं है, जो किसी काल का हूबहू चित्र खींच कर तुष्ट हो जाय, वह तो अपने आदर्शों का भी उसमें रंग भरता है। अतएव उन्होंने उस काल की स्त्री में भी पातिव्रत और संयम की भावनाओं का आरोप किया है। समाज की स्थिति के लिए यह आवश्यक भी है। 'मनु' ने इड़ा पर अत्याचार कर अपने सिर पर आपत्ति ही मोल ली। उन्हें अपने असंयम और नारी के अपमान का भयङ्कर मूल्य चुकाना पड़ा।

इस तरह कवि ने अपने युग के बाह्य रूप के साथ-साथ मनुष्य को भी चित्रित किया है। 'मनुष्य' का रूप ही कवि को अधिक भाता है, उनका समस्त काव्य उसके ही प्रकाश से आलोकित है—उसका प्रेम, उसकी वासना, उसकी अतृप्ति, उसकी ईर्ष्या, घृणा, क्रोध, करुणा, क्षमा, उदारता, वीभत्सता—सभी उसमें अपनी सार्थकता और नित्यता की साक्षी दे रहे हैं। 'आज का मनुष्य क्या है', यह तो उनके काव्य में वर्णित है ही, उसे 'क्या होना चाहिए', इसकी ओर भी उन्होंने दृढ़ आग्रह दिखाया है।

हाँ, एक बात छूटी जा रही है। 'कामायनी' में युग की अवस्था-विशेष का आरोप करने के लिए हाल ही जो "अनुसंधान" सामने आ रहे हैं, उनमें दिल्ली की सल्तनत, अवध राज्य आदि का सामन्ती शासकवर्ग, देवताओं, प्रकृति, बाहरी पूंजीवाद (अंग्रेज आदि) और सामन्ती समाज रचना में क्रान्ति तथा ध्वंस का प्रतीक बताया जा रहा है। पर इन प्रतीकों का पूरा निर्वाह नहीं हो

पाता। कवि ने अपनी भूमिका में अपने प्रतीकों का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है। मनुष्य अपने बुद्धि कौशल से तो तुलसीदास की "ऋष्यमूक पर्वत नियराई" में 'नियर' को पकड़ कर कवि को आंग्ल भाषा से परिचित सिद्ध कर सकता है। कवि की दूरारूढ़ कल्पना के समान ही आलोचकों की ऐसी नई खोजों से केवल मनोरंजन हो सकता है—कवि को समझने में सहायता नहीं मिल सकती।

प्रसाद के समसामयिक कवि

(एक विहङ्गम दृष्टि)



'भारतीय आत्मा'

"भारतीय आत्मा" का कविताकाल, हिमकिरीटिनी को ही प्रमाण मान कर १९१३ ई. माना जा सकता है। यह वह समय है—जब द्विवेदी युग उभार पर था। हिन्दी कविता रीतिकाल के अति शृंगार से प्रायः मुक्त हो गई थी और इतिवृत्तात्मक पथ पर नीति-सदाचार का दामन पकड़ आगे बढ़ रही थी। कवि, हृदय की अनुभूति की अपेक्षा नेत्रों की बाह्य क्रीड़ा का अंकन करना अधिक जानते थे और जो कुछ जानते थे—उसे अभिधामूलक ढंग से लिख देते थे। अतः हमें उस काल की रचनाओं में वर्णन अधिक मिलता है, जो बहिर्मुखता का प्रधान लक्षण है। हिन्दी—कविता के इतिहास में द्विवेदी-काल—

"शुष्को वृक्षः तिष्ठत्यग्रे"

का स्मरण कराता है। पर कलाकार सदा युग का अनुयायी नहीं होता, पुरोगामी भी होता है। उस समय उत्तरप्रदेश की काशी नगरी में जयशंकर 'प्रसाद' और मध्यप्रदेश में "भारतीय आत्मा" और मुकुटधर पांडेय की रचनाओं में अन्तर्मुखी संगीत कलामयी वक्रतामयी शैलीमें ध्वनित होने लगा था। "प्रसाद"के लिए प्रकाशन-

क्षेत्र सुलभ था, मुकुटधर सरस्वती से किसी प्रकार संबद्ध हो गए थे, पर "भारतीय आत्मा" का क्षेत्र प्रात का एक कोना मात्र था। अतएव उनकी रचनाओं की ओर बहुत बाद मे हिन्दी संसार का ध्यान आकर्षित हुआ। "प्रताप" के श्री गणेश शंकर विद्यार्थी "भारतीय आत्मा" को हिन्दी संसार से परिचित करने में कारणीभूत हुए। खंडवाके श्री कालूरामजी गंगराड़ेने जब "प्रभा"का प्रकाशन प्रारम्भ किया तब प्रभा के साथ-साथ "भारतीय आत्मा" की प्रतिभा भी आलोकित होने लगी। राजनीति के क्षेत्र में सक्रिय कार्य करते रहने से जहाँ उनकी कविता में राष्ट्रीयता का स्वर प्रबल है, वहाँ अपने को छिपा कर कहने का कौशल भी कम नहीं है। भूमिगत होने की प्रवृत्ति काव्य शास्त्र में लाक्षणिकता कहलाती है। बहुत प्रतीक्षा के बाद उनकी रचनाओं का प्रथम संग्रह 'हिमकिरीटिनी' प्रकाश में आ सका है। (दूसरा संग्रह 'हिमतरंगिनी' भी हाल ही में प्रकाशित हुआ है।) हिमकिरीटिनी भारत माता का प्रतीक है। पर इसका यह अर्थ नही कि हिमकिरीटिनी भारत माता से सम्बन्ध रखनेवाली रचनाओं का ही संग्रह है। इसमें हृदय के "उपास्यदेव" के प्रति भी निवेदन भरी अभिव्यक्तियाँ है। सन् १९१३ में लिखी गई "उपास्य" को पढ कर सच-मुच आश्चर्य होता है, क्योंकि वह बिलकुल आधुनिक है।

"लो आया"...उस दिन जब मैंने,
संध्या-वन्दन बन्द किया,
क्षीण किया सर्वस्व, कार्य के
उज्ज्वल क्रम को मन्द किया।
द्वार बन्द होने ही को थे
वायु वेग बलशाली था,
पापी हृदय कहाँ?
रसना में रहने को वनमाली था।
अर्धरात्रि, विद्युत — प्रकाश,
घन गर्जन करता फिर आया;
लो जो बीते, सहूँ-सहूँ क्या,
कौन कहेगा — "लो आया।"
"लो आया" टप्पर टूटा है,
वातायन दीवारें हैं,
पल-पल में विह्वल होता हूँ,
कैसी निर्दय मारें हैं।"

सन् १९१३ की "भारतीय आत्मा" की इस रचना में जो भाषा की सफाई और अभिव्यक्ति की वक्रता है, वह हमें तत्कालीन "प्रसाद" की रचनाओं में भी नही मिलती। 'झरना' की भावनायें तो ऐसी है, पर भाषा-प्रवाह ऐसा नहीं है।

इसी प्रकार गांधीजी को लक्ष्य कर लिखी गई—"निःशस्त्र सेनानी" रचना में भी आधुनिकता है :—

"सुजन ये, कौन खड़े हैं?
बन्धु! नाम ही है इनका बेनाम।
कौन सा करते ये हैं काम?
काम ही है बस इनका काम।
हिलोरें लेता भीषण सिन्धु,
पोत पर है नाविक तैयार।
घूमती जाती है पतवार,
काटती जाती पारावार।"

आपकी राष्ट्रीय रचनाओं में हृदय-पीड़ा रस बन कर स्रवित होती है। "घर मेरा है" में कवि का प्रश्न है:—

"क्या कहा कि घर मेरा है,
जिसके रवि ऊगें जेलों में।
संध्या होवे वीराने में,
उसके कानों में क्यों कहने—
आते हो? यह घर मेरा है?
० ० ०
'मत घर की याद दिलाओ तुम।'
अपना तो काला डेरा है,
कलरव बरसात हवा ठंडी,
मीठे दाने खारे पानी।
सब कुछ ले, लौटाया न कभी,
घरवाला महज लुटेरा है।

"सिपाही" का परिचय सुनिये—

सिर पर प्रलय, नेत्र में मस्ती,
मुट्ठी में मनचाही।
लक्ष्यमात्र मेरा प्रियतम है,
मैं हूं एक सिपाही।

सिपाही पर हिन्दी में यह अद्वितीय कृति है। सिपाही सेना का महत्व-पूर्ण अंग होने पर उपेक्षित है:—

"मुझे भूलने में सुख पाती,
जग की काली स्याही।
बन्धन दूर, कठिन सौदा है,
मैं हूँ एक सिपाही।"

बलि-पंथी से कहा जाता है कि वह शूलों को प्रसन्न होकर सहे—

"मत व्यर्थ पुकारे शूल-शूल,
कह फूल-फूल, सह फूल फूल।
हरि को ही तल में बन्द किये,
केहरि से कह हूल-हूल।"

हरि से कवि का तात्पर्य परमात्मा और स्वाधीनता के देवता दोनों से हैं। कवि ने प्रिय, प्रियतम, आराध्य आदि शब्दों का श्लिष्ट प्रयोग किया है। कवि ने मृत्यु-गीत भी सुन्दर लिखे हैं। अपने प्रिय विद्यार्थी देवीशंकर जोशी, (यह रचना इस संग्रह में नहीं है।) लोकमान्य तिलक और पं विष्णुदत्त शुक्ल पर लिखी गई मृत्यु रचनाएं अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

हिमकिरीटिनी में कवि की अनेक प्रसिद्ध राष्ट्रीय कविताएं संकलित नहीं हैं। उसमें व्यक्ति-परक रचनाओं का बाहुल्य है। जो कवि के निकट सम्पर्क में आये हैं, वे जानते हैं कि जीवन की मर्मस्पर्शिणी घटनाओं की प्रेरणा और छाया उनकी रचनाओं में कितनी अधिक है, "सौदा" का सम्बन्ध व्यक्तिगत होते हुए भी सार्वजनिक है। स्व० सेठ जमनालाल बजाज ने उन्हें मासिक वृत्ति पर अपने यहा रखने का जब प्रस्ताव किया, तो उन्होंने लिखा—

चाँदी-सोने की आशा पर, अन्तस्तल का सौदा
हाथ पाँव जकड़े जाने को, आमिष पूर्ण मसौदा
टुकड़ों पर जीवन की श्वासें, कितनी सुन्दर दर है
हूँ उन्मत्त तलाश रहा हूँ, कहाँ बधिक का घर है।

खीझमयी मनुहार, कुंजकुटीरे, यमुना तीरे, स्वागत आदि रचनाओं का अपना इतिहास है। इसी से कवि अपनी अभिव्यक्ति को कभी गूढ़, कभी अगूढ़ व्यंजना और समासोक्ति में व्यक्त करता है। ऐसी दशा में रचनाओं का सम्पूर्ण अर्थ ग्रहण नहीं हो पाता; परन्तु ज्योंही प्रेरणा का सूत्र हस्तगत हो जाता है, अर्थ की घुंडी खुल जाती है और पाठक चमत्कृत हो जाता है। विरोधाभास कवि को बहुत प्रिय है।

लोग कहें चढ़ चली उमर में,
पर मैं नित्य उतरती हूँ—सखि !
मैं अपने से डरती हूँ सखि !
मैं बढ़ती हूँ। हाँ-हरि जानें।
यह मेरा अपराध नहीं है
उतर पड़ूँ जीवन के रथ से
ऐसी मेरी साध नहीं है।
लोगं कहें आँखें भर आईं
मैं नयनों से झरती हूँ—सखि !
मैं अपने से डरती हूँ—सखि !

एक जगह तारों की अँगूरों से उपमा मे अभिनवता है—प्रयोगात्मकता है।

उड़ने दे मुझ को तू उसतक, जिसने हैं अंगूर बखेरे
सिर पर नीलम की थाली में, वन में ना सखि,
वनमाली में।

प्रिय की बिदायी के समय मन में कितनी उलझन पैदा हो जाती है—

किन्तु बिदायी आज हुई, सुलझो घड़ियाँ उलझाने को
आँगन से जाता है वह, अन्तर में धूम मचाने को।
पीड़ा में हो के निहाल, पाकर अपना अतिरेक
बेचैनी बन रहे मधुर, धड़कन की धुन की टेक।

जवानी जब "मरण का त्योहार मनाती है," तभी सार्थक होती है —

प्राण रोक खींच दे उठ बोल रानी !
री भूख के मोल की चढ़ती जवानी !

कवि ने हिन्दी-राष्ट्रीय कविता को बलिदान, बलिपंथी, मरण-त्योहार, तरुणाई आदि शब्द प्रदान किये है। हिमकिरीटिनी में व्यक्ति-प्रेम, समष्टि–प्रेम और देश–प्रेम की भावनाओं का चित्रण है। यह भी एक विचित्रता है कि कवि में उर्दू साहित्य का पाडित्य न होते हुए भी उर्दू शायरी की आत्मा का अच्छा विलास है। वह बाते कहता है, मन प्रसन्न होता है, वह चोट करता है, दिल मसोस उठता है। उसके काव्य की ये दोनों विशेषतायें 'हिमकिरीटिनी' में विद्यमान है।

हिमकिरीटिनी के पश्चात् 'कवि' की अन्य रचनाओं का संग्रह 'हिमतरङ्गिनी' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें छायावाद-युग की गीति-शैलीका विलास है। कही कहीं प्रान्तीय शब्दावली अर्थ को मूर्तिमत्ता प्रदान करली है— 'जीवन का अलाव' जगाना कितना मार्मिक है।

'आज नयन के बँगले में संकेत पाहुने आये री सखि!'

गीत मधुर है।

गीतों मे प्रेम की मनुहारों की प्रायः सजलता पाई जाती है—

"प्यारे इतना सा कह दो,
कुछ करने को तैयार रहूँ।
जिस दिन रुठ पड़ो,
शूली पर चढ़ने को तैयार रहूँ!"

कहीं कहीं रीतिकालीन कृष्ण—कवियों का नशा भी कवि पर चढ़ा दीख सकता है—

"महलों पर कुटियों को वारो,
पकवानों पर दूध-दही
राजपथों पर कुंजें वारो,
मंचों पर गोलोक मही,
सरदारों पर ग्वाल, और
नागरिकों पर वृज-बालायें!
हरि-हारों पर वार लाड़ले,
वनमाली वन -- मालायें!"

कहीं कही लक्षणा का वैचित्र्य दर्शनीय है—

"मैंने देखा था, कलिका के कंठ कालिमा देते!
मैंने देखा था, फूलों में उसको चुम्बन लेते!"

भौंरा कली पर बैठ कर उसके वर्ण को काला बना देता है। कवि ने कली पर बैठना न कहकर लक्षणा से अर्थ व्यंजित कर दिया।

'प्रसाद' और भारतीय आत्मा' की भाषा में यद्यपि लाक्षणिकता और व्यञ्जकता तो समान रूप से पाई जाती है पर जहाँ प्रसाद की भाषा में संस्कृत का पाण्डित्य प्रबल है वहाँ भारतीय आत्मा की भाषा में उसका "चलतापन" (टकसाली रूप) अधिक है, उर्दू शब्दों के प्रति रुझान ज्यादा है।

'प्रसाद' के प्रेम की व्यंजना परोक्षसत्ता की ओर अधिक संकेत करती है और 'भारतीय आत्मा' के प्रेम की व्यंजना राष्ट्र--देवता की ओर अधिक

उन्मुख होती है। दोनों कवियों का मानव – सौन्दर्य के प्रति सम्मान है — आकर्षण है। दोनों ' वियोग – ' रस में अधिक आर्द्र होते हैं। पर ' प्रसाद ' ने जहां ' कामायनी ' जैसे ' महाकाव्य ' की रचना में मानव जीवन के रहस्य का उद्घाटन किया है वहाँ 'भारतीय आत्मा' वसन्तऋतु की कोकिल के समान बिखरे गीत गाकर ही संतुष्ट हो गये हैं।

———

'पंत'

छायावाद–युग की कवि त्रयी प्रसिद्ध है–'' प्रसाद '' 'पंत' और निराला। 'पंत' द्विवेदी-युग के अन्तिम प्रहरों में कविके रूप में आविर्भूत हुए। इनकी प्राथमिक--किशोर--रचनायें परमात्म शक्ति के प्रति कुतूहल भरी दृष्टि रखती हैं, फिर इनको प्रकृति अधिक मोहक और लुभावनी जान पड़ी, इसके बाद तारुण्य के साथ 'नारी' के रोम-रोम से इनमें अपार स्नेह जागृत हो उठा। यह छायावाद का मध्याह्न था। इसके बाद कवि में मानवता की व्यापक भावना क्रन्दन करती दीख पड़ती है। वह गांधीवादी और मार्क्सवादी दोनों बनता है और दोनों के समन्वय के लिये यत्नशील होता है। अब उसे ऐसा लग रहा है कि समाज के नहीं, व्यक्ति के विकास से समाज का विकास होगा। इस समय वह अरविन्द की दार्शनिकता से रंजित है। वह 'अन्तर-चेतनावादी' हो गया है।

कविकी प्रवृत्ति के अनुसार उसकी कृतियों का क्रमवार संक्षिप्त परिचय दिया जाता है–

(१) वीणा–इसमें किशोर कवि की आध्यात्मपरक तथा प्रकृति सम्बन्धी १८ रचनाएँ है –

'माँ! मेरे जीवनकी हार,
तेरा मंजुल हृदय-हार हो,
अश्रु-कणों का यह उपहार!'

में कितनी निश्छलता है और कितना मधुर-शब्द-चयन है!

(२) ग्रंथि–में कवि नारी-प्रेम की मादकता अनुभव करता है। इसे लघु खड-काव्य भी कहा जा सकता है। नाव के डूबने के बाद कवि जल में समा जाता है पर ज्यों ही उसकी आंख खुलती है वह अपने को एक स्त्री के अङ्क में पाता है–उसकी आंखों की पुतली में सुन्दरी बस जाती है पर उसने कवि के प्रेम का प्रतिदान नहीं दिया। वह दूसरे का घर बसाती है। कवि निराश और खिन्न हो जाता है। इसमें कविकी विरह-व्यथा बड़ी सजल है। भावों की चित्रात्मकता दर्शनीय है–

" निज पलक मेरी विकलता साथ ही,
अवनि से, उर से 'मृगेक्षिणी ने उठा,
एक पल निज स्नेह श्यामल दृष्टि से,
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी सीप सी।

ग्रंथि की तीव्र अनुभूति की प्रशंसा उनके विरोधी समीक्षक भी करते हैं।

पल्लव–कवि का अत्यन्त सुकुमार प्रकृति-काव्य कहा जाता है। 'परिवर्तन' रचना में शैली की 'वेस्ट विंड' सा आवेग है और अनुभव का सत्य दार्शनिक पृष्ठभूमि पर शाश्वतता के गीत गाता है। प्रकृति का मानवीकरण इसमें कई स्थलों पर दिखलाई देता है। यद्यपि इसकी सभी रचनाए उत्कृष्ट नहीं है तो भी यह कविकी वह रचना है जिसने प्रथम बार छायावादी रचनाओं में शब्द–सामर्थ्य की घोषणा की थी। इसकी खड़ी बोली ने अपना कोमल रूप प्रकट कर व्रजभाषा–प्रेमियों को आकृष्ट किया था।

गुंजन–में कवि दार्शनिक की भूमिका में प्रविष्ट हो सुख-दुःख में समन्वय का यत्न करता है। इसमें प्रेम-गीतों का भी समावेश है। "भावी पत्नी के प्रति" रचना अधिक आकर्षक है और लोकप्रिय भी।

युगान्त — में कवि एक नवल सृष्टि–रचना की घोषणा करता हैं, क्योंकि उसे जगके बाहर सौन्दर्य, स्नेह, और उल्लास नही मिल सका। वह युगान्त के पक्ष में अपने मानसिक 'निष्कर्षों के धुधले पद-चिह्न भी देखता है। 'युगान्त' में यथार्थ अर्थात् बाह्य और अन्तर्जगत दोनोंकी झाँकियाँ है। जहाँ प्रयत्न साधिता है, वहाँ यत्र – तत्र रुक्षता स्वाभाविक है।

युगवाणी — से कवि प्रगतिवादियोंकी पंक्तिमें बैठ जाता है। कवि ने स्वयं स्वीकार किया है कि युग को वाणी देने के लिए इसकी रचना की गई है। अतः गद्यात्मकता इसमें अधिक है। मानव की सजीव सुन्दरता देखने का उसका दावा है! प्रकृति–दर्शन से वह अब विमुख होना चाहता है। फिर भी अपने सहज प्रकृति – प्रेम को वह इसमें भी नही भूल सका।

ग्राम्या — में ग्राम सम्बन्धी रचनायें है पर कवि की 'ग्रामीणों के प्रति बौद्धिक सहानुभूति ही अधिक व्यक्त हुई है इसमें कुछ रेखा – चित्र अवश्य सुन्दर है। युग – समस्याओं का चित्रण भी उसने इसमें किया है। प्रकृति के खंड-चित्रों से ग्राम्या सज्जित है।

ग्राम्याके पश्चात् कविकी स्वर्ण किरण,स्वर्ण धूलि और उत्तरा नामक रचनायें प्रकाशित हुई हैं, जिनकी बहुसंख्यक रचनाओं में कवि अरविन्द दर्शन से प्रभावित दीखता है। उमर खय्याम के गीतो का "ज्वाल" नाम से अनुवाद भी उसने किया है। हाल ही--रेडियो गीति-रूपकों का भी एक सग्रह प्रकाशित हुआ है।

कानपुर से निकलने वाली मासिक पत्रिका 'उत्तरा' में कवि ने हिन्दी कविता के विकास का क्रम दिखलाते हुए अपनी काव्य-साधना की चर्चा की है। वह लिखता है–

"अपने युग की महत् चेतना से, एक छोटे से साहित्यजीवी के रूप में, मैं भी अपने ढंग से अनुप्राणित एवं प्रभावित हुआ हूँ। इसके चढ़ाव-उतार में मेरी भी छोटी-सी तुच्छ देन है। अपने पूर्ववर्ती सभी कवियों के ऐश्वर्य को मैने शिरोधार्य किया है और अपने समकक्षियों तथा सहयोगियों की प्रतिभा का प्रशंसक तथा समर्थक भी रहा हूँ। अपनी काव्य-साधना में मैंने संत कवियों तथा डा० टैगोर से अनुप्राणित छायावाद को आध्यात्मिकता तथा आदर्शवादिता की नवीन अंतश्चेतना का स्वरूप देने का प्रयत्न कर उसकी निष्क्रियता को सक्रियता प्रदान की, उसकी वैयक्तिकता को लौकिकता मे परिणत करने की चेष्टा की है। मैंने आदर्शवाद तथा वस्तुवाद के विरोधों को नवीन मानव चेतना के समन्वय में ढालने का प्रयत्न किया है। मैं अपने युग की चेतना में छाए

हुए अंधविश्वासों तथा निरर्थक रूढिरीतियों के प्रेतों से लड़ा हूँ। मैंने विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों तथा जातियों, वर्गों में बँटे हुए लोगों को अपनी काव्य-चेतना के प्रांगण में आमन्त्रित कर उनको एक दूसरे के पास लाने का प्रयत्न किया है। मैंने आध्यात्मिक तथा भौतिक अतिरंजनाओं का विरोध किया है। भौतिकता आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में ग्रहण कर उन्हें लोक-कल्याण के लिये महत्तर सांस्कृतिक समन्वय में, एक दूसरे के पूरक की तरह संयोजित करना चाहा। युगवाणी से लेकर स्वर्ण किरण तक मैंने जीवन की बहिरंतर असमान्यताओं को सामंजस्य के ताने बानों में गूँथ कर नवीन मानवता के सांस्कृतिक पट को शब्द-ग्रथित करने का विनम्र प्रयत्न किया है। अपने प्रगीतों में मैंने मनुष्य के लिए नवीन सांस्कृतिक हृदय को जन्म देने की आवश्यकता बतलाई है। उसे नवीन रागात्मक संवेदनाओं, नवीन आदर्शों के स्पंदन से अनुप्राणित करने का प्रयास किया है। कलापक्ष में मैंने युग-चेतना को नवीन सौन्दर्य का लिबास पहनाने का प्रयत्न किया है...इस सब में मुझे अवश्य ही सफलता नहीं मिल सकी है, और जिसकी चर्चा करना मुझे केवल आत्म-श्लाघा प्रतीत हो रहा है।"

स्पष्ट है, कवि ने सन् १९४०–४१ का नया मार्क्सवादी लबादा अलग रख दिया है–वह आत्मा के विकास में समाज के विकास को देखने लगा है। व्यक्ति से समष्टि बनता है, यह तथ्य उसे ठीक जँचने लगा है। इस तरह 'पंत' का कवि परिस्थितियों और अनुभवों से शिक्षा ग्रहण कर अग्रसर होता है। उसके समीक्षक उसमें अनुभूति तत्त्व की कमी देखते हैं। इसे वह इंकार भी नहीं करता। वह चिन्तन के द्वारा सृष्टि का आकलन कर अपनी अभिव्यक्ति को 'स्व' से ऊँचा उठाना चाहता है। सम्भवतः वह कालरिज के इस मत से सहमत है– "A second promise of genious is the choice of subjects very remote from the private interest and circumstances of the writer himself" (लेखक व्यक्तिगत स्थिति और दिलचस्पी से ऊपर उठ कर अपना विषय चुनता है। यही उसकी प्रतिभा का दूसरा लक्ष्य है।) "प्रसाद" में 'चिन्तन की अपेक्षा अनुभूति का अंश कदाचित अधिक है।

'निराला'

'निराला'—हिन्दी के विस्फोटक कवि हैं, पहले तिरस्कृत फिर समादृत। बंगाल में वर्षों रहने के कारण बँगला भाषा पर इनका अगाध अधिकार है और रविबाबू की प्रतिभा से अत्यधिक प्रभावित है। 'मतवाला' (कलकत्ता) से इन्हें हिन्दी-जगत में निश्चित ख्याति मिली। हिन्दी के रहस्यवाद-छायावाद-युग की ये शक्ति रहे हैं। 'प्रसाद' में जहाँ प्रासादिक शृङ्गारिकता है, वहाँ निराला में ओजपूर्ण सरसता है। इन्होंने ब्राह्य और आभ्यन्तर-जगत-दोनों की टोह ली है। पर बौद्धिकता अधिक होने से इनमें प्राय: दुरूहता भी आ गई है। काव्य-वस्तु के साथ शैली के भी 'निराला' ने अनेक प्रयोग किये हैं। 'गीतिका' में जहाँ संगीत का शास्त्र है, वहाँ लोक-व्यावहारिक गीतात्मकता का रस भी है।

छन्दों के विविध प्रयोग और छन्द-मुक्तता के प्रयोग भी 'निराला' की विशेषता है। 'निराला' के पूर्व कविता को छन्दोंसे मुक्त करने का साहस किसी ने नही किया। इसी से इनकी प्रारम्भिक मुक्त छन्द की रचनाओं को उपहास का निशाना बनना पड़ा। रूढिवादी इनके छन्दों को "रबड़ छन्द" कहने लगे थे। कविने इधर हिन्दी में गज़ल के भी प्रयोग किये है —

"खुला भेद विजयी कहाये हुये जो,
लहू दूसरे का पिये जा रहे हैं।"

कजली का रंग भी इनकी कुछ रचनाओं में दिखलाई दिया —

"काले काले बादल छाये, न आये वीर जवाहरलाल"

'निराला' जहाँ मुक्त छन्द के पुरस्कर्ता है, वहाँ अनेक छन्दों के उद्धारक भी हैं। छायावादी कवियों में 'निराला' ही ऐसे कवि है जिनकी पद्य रचनाओं में गद्य की तरह व्यङ्ग्य का कशाघात है — उपहास की मीठी फुहार है। इस कोटि की रचनाओं में 'कुकुरमुत्ता' 'और 'खजोहरा' बड़ी प्रसिद्ध है।

उनकी लम्बी कविताओं में 'तुलसीदास' (इसे प्रबन्ध काव्य ही कहना उचित होगा) 'सरोजस्मृति' और राम की शक्तिपूजा' का अपना स्थान है।

छायावादी कवियों मे 'प्रसाद' को ही 'कामायनी' जैसी महान कृति सृष्ट करने का गौरव है। निराला की प्रकाशित काव्य कृतियों की सूची का क्रम यह है —(१) अनामिका (२) परिमल (३) गीतिका (४) तुलसीदास (५) अनामिका नवीनसस्करण (६) कुकुरमुत्ता (७) अणिमा (८) बेला (९)नये पत्ते (१०) अपरा।

निराला के काव्य को संत और भक्त कवियों से बराबर प्रेरणा मिली है। रवीन्द्र और विवेकानंद इनके हृदय को बराबर स्पन्दित करते रहे हैं। विवेकानंद के अद्वैतवाद ने जहाँ इन्हें बौद्धिक दृष्टिकोण प्रदान किया वहाँ रवीन्द्र ने रूढ़ियों के प्रति विद्रोह और भाव -- लोक की सर्जना की ओर उन्मुख किया; यह हम ऊपर कह आये है। प्रगतिवादी युग में निराला ने ऐसी रचनायें भी की है जिनका महत्व शुद्ध " व्यंग के अतिरिक्त कुछ नहीं। संभव है प्रगतिवादी काव्य की विडम्बना ही इनका ध्येय रहा हो। उनकी 'गरम पकौड़ी' का 'स्वाद' (?) लीजिये —

"गर्म पकौड़ी —
ए गर्म पकौड़ी,

तेलकी भुनी
नमक - मिर्च की मिली,
ए गर्म पकौड़ी
मेरी जीभ जल गई
सिसकियाँ निकल रहीं
लार की बून्दें कितनी टपकीं
पर डाढ़तले तुझे दबा ही रक्खा मैंने
कंजूस ने ज्यों कौड़ी—
ए गर्म पकौड़ी ।
तूने पहले मुझको खींचा,
दिल लेकर फिर कपड़े सा फींचा,
तेरे लिये छोड़ी बम्हन की पकाई
मैंने घी की कचौड़ी—
ए गर्म पकौड़ी !

इस गर्म पकौड़ी में काव्य 'डाढ़ के तले' दब कर सिसक रहा है । ब्राह्मण के लड़के का प्रेम-सगीत सुनिये—

"बम्हन का लड़का,
मैं प्यार उसे करता हूँ ।
जात की कहारिन वह,
मेरे घर की पनहारिन वह,
आती है होते तड़का
उसके पीछे मैं मरता हूँ ।
कोयल सी काली,
चाल नहीं उसकी मतवाली,—
ब्याह नहीं हुआ, तभी भड़का
दिल मेरा, मैं आहें भरता हूँ ।"

ऐसी रचनाओं में केवल एक सर्वथा तथ्यवादी काव्य के वाद का खुला उपहास मात्र है । जो 'निराला' की प्रवृत्ति से परिचित हैं, वे उनके ऐसे उपहास से चकित नहीं हो सकते । अंग्रेजी के आधुनिक प्रसिद्धि प्राप्त कवि टी एस ईलियट ने भी कविता को गंभीर नहीं रहने दिया । उनकी एक कविता की पंक्तियाँ हैं—

"I grow old... I grow old,
I shall wear the buttons of my
trousers rolled

साहित्य-समीक्षकों ने चौंक कर कहा–

"यह तो बूढ़ा हो ही रहा है, कविता को भी बूढी बना रहा है।" पर ईलियट अपनी धुन में बढता ही गया। काव्य के विषय और उसकी अभिव्यञ्जना-शैली-दोनो में वह अनूठापन प्रदर्शित करता है। यही कारण है कि उसपर अस्पष्टता का दोष मढ़ते हुए भी वह "नोबल पुरस्कार' का विजेता घोषित किया जा चुका है। प्रसाद' के काव्य में निराला के समान न विविधता है, न हलकापन है, न व्यङ्ग्य का पुट है पर 'निराला' हिन्दी में छन्द-मुक्तिका जयघोष करते हुए भी 'प्रसाद' से अधिक मधुर सगीतात्मक प्रवृत्ति प्रदर्शित कर रहे है। दार्शनिकता की छाया तो इनमें सहज ही आ जाती है। 'प्रसाद' में जहाँ केवल 'मधु' है वहाँ 'निराला' में मधु के साथ 'ओज' भी है--तीखापन भी है।

परिशिष्ट (क)

"आँसू"—अर्थ-प्रकाश

[इसमे "आँसू" काव्य-कृति की पंक्तियों का काव्य-वैशिष्ट्य सहित अर्थ स्पष्ट किया गया है ।]

इस करुणा से भरे हृदय में अब विकलता छा गई है और पता नहीं, क्यों बेहद वेदना बढ गई है ? हृदय में दु:ख की स्थिति तो थी ही पर कवि कहते है कि उसमे अब दर्द की तीव्रता क्यों अनुभव होने लगी ? इस प्रश्न का उत्तर कवि ने आगे की पंक्तियों में दे दिया है । *

+ × ×

उनके मन में भूली बीनी बातों की स्मृति जाग उठी है और वही स्मृति मन के पर्दे पर बराबर धीरे-धीरे टकरा रही है, पहिली दो पंक्तियों में कवि प्रश्न करते हैं कि मानस-सागर के किनारे पर भाव-लहरें क्यों टकरा रही है ? 'लोल' शब्द कहता है कि स्मृतियाँ एक के बाद एक बड़ी शीघ्रता से उठ रही हैं और मन पर धक्के मार रही है परन्तु उन स्मृति-लहरों का आघात भी मधुर है, तभी उनकी कल-कल ध्वनि है । †

× × ×

---

* विकल रागिनी = करुण स्वर, वेदना असीम गरजती—उपादान लक्षणा—अत्यन्त तीव्र वेदना का उठना ।

† रूपक : लोल लहर = चंचल स्मृति का प्रतीक—बार-बार स्मृति जाग उठती है ।

कवि की स्मृति-वेदना 'हाहाकार' स्वरों में मुखरित हो जाती है, पर यह चीत्कार उन्हीं तक मँडरा कर रह जाता है। जिसके प्रति वह उन्मुख होता है उस तक वह पहुँच ही नही पाता। ऐसा प्रतीत होता है, कवि का 'प्रिय' इस लोक में नहीं रहा। जिसके साथ उन्होंने मिलकर प्रेम का मादक प्याला पिया था, वह (प्याला) अब उनके हाथ मे अकेला ही रह गया है—उसकी रिक्तता से वे रह-रह व्यथित हो उठते है। उनका उत्पीडन 'अरण्य–रोदन' बन गया है, जो बाहर प्रकट होकर उनकी आन्तरिक अवस्था को सारे ससार और आकाश तक में भर देता है, पर उसका कोई प्रत्युत्तर उन्हें नही मिलता। वे अपने करुण आलाप को स्वयं सुना करते है। उनके आँसुओं के साथ आँसू बहानेवाला और कोई उन्हें नहीं दीखता। इसी से वे पूछते है कि 'मेरी प्रतिध्वनि' शून्य क्षितिज से क्यों लौट आती है? यह एकाकी रुदन पागल का प्रलाप तो नही है?

× × ×

'मैने अपने विह्वल जीवन के सुख और दु:ख-दोनों-पहलुओं को स्पष्ट ही प्रस्तुत कर दिया है।' कवि कहते है "मुझे स्वयं पता नही कि मैने ऐसा क्यों किया? पर इससे मुझे सुख अवश्य अनुभव हुआ है।" अपने जागृत मन या जीवन को कवि ने 'व्यथित व्योम गगा' की उपमा दी है। आकाश-गंगा के फेनिल तारक-समूह व्यथा के प्रतीक प्रतीत होते है। जब कोई तरल चीज़ मथी जाती है तो वह फेनिल हो उठती है। हृदय को जब वेदना मथने लगती है तो उससे उठा हुआ फेन ही मानो आँखों से आँसू बन कर ढरक जाता है! नदी के उद्गम और अन्त ही उसके दो छोर होते है। कभी-कभी नदी के उद्गम के ठीक स्थान का स्पष्ट पता नहीं चल पाता। उसका स्रोत अज्ञात स्थल से फूट कर बह सकता है, पर कवि ने अपने मन की 'तरङ्गिनी' के किसी भी 'छोर' को गोपनीय नही रखा। जिस तरह हम 'आकाश-गंगा' की रेखा के दोनों छोरों को खुली आँखों से देख सकते है, उसी प्रकार कवि ने अपने 'जीवन' के दोनों छोरों—(हर्ष और अवसाद) को बहुत ही स्पष्टता से छिटका दिया है–प्रस्तुत कर दिया है। और ऐसा करने पर उन्हें सुख ही अनुभव हुआ है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब मनुष्य अपने दवे 'विकारों' को बाहर निकाल देता है तो उसे एक प्रकार की सेहत मिलती है। वह हृदय के भार को हलका कर स्वस्थ हो जाता है।*

---

* 'छोर' को कवि ने स्त्रीलिंग बना दिया है और उसका बहुवचन 'छोरें' भी तुक का तकाज़ा पूरा कर रहा है। पंजाब में इसी प्रकार तार (Telegram) का बहुवचन तारे हो गया है। पर हिन्दी में छोर का बहुवचन छोर ही रह गया है।

मेरे हृदय में अनेक स्मृतियाँ छाई हुई हैं। जिस प्रकार नीलाकाश में फैले नक्षत्र-समुदाय को नही गिना जा सकता-उसकी संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती, उसी प्रकार मेरे सुख-दुःखमय जीवन की स्मृतियों की सख्या का अनुमान नही लगाया जा सकता। ऐसा मालूम होता है, मानों मेरे हृदय में ही आकाश छा गया हो।÷

× × ×

हृदय में जो ज्वालामयी जलन है-'प्रिय' की स्मृति-चिनगारियाँ हैं—वही गरम 'आँसू' बन कर झर रही है। आँसू प्रिय की स्मृति में ही वह रहे है। अतएव यह प्रकट कर रहे है कि कवि का 'उससे' कभी मिलन हुआ था। जो इन पंक्तियों में आध्यात्मिकता का आभास पाते हैं, वे कहते हैं कि आत्मा-परमात्मा पहिले 'एक' थे। अब जो आँसू गिर रहे है वे आत्मा की वियोग-वेदना के अगारे ही है; हम इन पंक्तियों में हठात् 'आत्मा-परमात्मा' का साम्प्रदायिक अर्थ आरोपित नही करना चाहते। 'प्रिय' का अन्तिम मिलन प्रेमी के लिए 'महामिलन' ही है। अतः उसके वियोग में स्मृति का जल उठना और गरम-गरम आँसुओं का ढरकने लगना लौकिक अनुभूति का परिचित विषय है।

× × ×

पृष्ठ १०--हृदय में बिरहाग्नि जल रही है, पर मुझे यह जलन भी शीतलता प्रदान करती है—सेहत देती है। इसीलिए 'ज्वाला' शीतल है। चूकि मैं प्रिय के अभाव में जी रहा हूँ-साँसे ले रहा हूँ, इसलिए मेरी वेदना बढ ही रही है। मेरी साँसें जिनका उनके अभाव में चलना व्यर्थ प्रतीत होता है, समीर का ही काम करती है। जिस प्रकार हवा के झोंकों से आग की लपटें बढ़ती है, उसी तरह मेरे हृदय की वेदना की लपटें साँसों के समीर से ऊँची ही उठ रही हैं। ×

÷ हृदय को 'नील निलय' (नीला स्थान) इसलिये कहा है कि वह एक तो शून्य है आकाश ही की तरह और दूसरे वह निराशा से परिपूर्ण है--निराशा अंधकार के समान है और अंधकार का वर्ण 'नील' है।

× यदि 'प्रिय' के ओझल हो जाने पर साँसें रुक जातीं, तो वेदना की आग उठती ही कहाँ से? वह भी साँसों के साथ ही सो जाती। जीवन में अब कोई 'अर्थ' नहीं रह गया। अतएव साँसें जिनसे शरीर जी रहा है, व्यर्थ ही चल रही है। 'शीतल ज्वाला' में विरोधाभास कितना अनुभूतिपूर्ण है! घनानंद ने भी कुछ ऐसा ही कहा है—

" धूम करै न धरै गात
सीरो परै, ज्यों ज्यों, जरै
ढ़रै नैन नीर....."

पृष्ठ १०—(२) मेरे हृदय के प्रेम--समुद्र के भीतर वेदना का बड़वानल छिपा हुआ था और मेरी आँखें प्रिय के रूप-दर्शन के अभाव में प्यासी मछली के समान तड़पती थी–जो पानी से पृथक् हो जाने पर विकल हो उठती हैं। मेरी आँखों मे प्रिय के रूप-दर्शन की प्यास की विकलता भरी है। ×

× × ×

पृष्ठ १०—आँखों से गरम आँसू टप-टप गिर रहे है। हृदय में प्रिय-विरह न बेचैन उथल-पुथल मचा दी है। कवि ने इस विवशावस्था का कितना प्रलयंकर चित्र खींचा है! जब पृथ्वी प्रलय से अभिभूत होती है तब आकाश से उल्कापात होता है, तारे टूटने लगते है, समुद्र-लहरों के साथ लहरा उठता है, पृथ्वी में अस्तव्यवस्तता छा जाती है, वह लुटी सी दिखाई देती है। धरणी मे यदि हम नारी का आरोप करे तो नीलिमामय आकाश मानों उसके बिखरे हुए केश है। नक्षत्रों का टूटना और समुद्र के बुलबुलों का फूटना, उसके नेत्रों के आँसू है। ÷

×आँखों को मछली की और प्रिय-दर्शन को 'रूप-जल' की उपमा दी गई है। थीं विकल रूप के जल में" से यह भी भान हो सकता है कि मछली (आँखें) रूप के जल मे रहकर भी विकल है। प्रमी को देखने पर भी विकलता का अत नही हो रहा है। 'जल मे मीन प्यासी' के समान स्थिति है। यदि हम 'जल' के 'अभाव' मे मछली की व्याकुलता समझें तो अर्थ स्पष्ट है।

÷ कवि को इन पंक्तियों में एक ऐसे असहाय व्यक्ति की तस्वीर खींचना अभीष्ट था, जिसके अभावमय हृदय में उथल–पुथल मची हुई है; जिसे अपने शरीर को (धरणी, शरीर की द्योतक है) सँभालने तक की सुधि नहीं है। अतः उसके केश आकाश में बिखरे हुए से, खुले हुए दिख रहे हैं। शरीर की बेसँभाल अवस्था, मन की अत्यंत तीव्र व्याकुलता प्रकट करती है। व्यक्ति की आँखों से आँसू झर–झर झर रहे है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है मानों हृदय-समुद्र के बुलबुले ही फूट कर आँखों से बाहर निकल पड़े है; अथवा नक्षत्रों की माला ही टूट पड़ी है। प्रथम दो पंक्तियों में उत्प्रेक्षा और संदेहालंकार हैं।

पृष्ठ ११—प्रिय के कोमल स्मृतिचरण ने मेरी हृदय-वेदना के छालों को छू दिया है। वे ही अब फूट कर और धीरे धीरे घुल कर आँसू के रूप में बह रहे है। कवि ने आँसुओं की 'करुणा के कण' से उपमा दी है। ×

× × ×

पृष्ठ ११—इस व्याकुल बना देनवाली वेदना को अपने हृदय में पाल कर कौन सुख का आह्वान कर सकता है?—कौन सुख को अपना बना सकता है—सुखी हो सकता है? हमारा अनजान भोला गरीब (प्रिय के मिलन-सुख-वैभव से रंक) जागृत मन 'विरह-वेदना' में बेहोश है। ऐसी दशा में उसे सुख कहाँ नसीब हो सकता है?

× × ×

मन में बारबार अभिलाषायें उठ रही है; साथ ही सोई हुई व्यथा भी जाग उठी है। अब सुख कैसे मिल सकता है? अब तो रोते रोते ही आँखें झप रहा है। तात्पर्य यह कि सुख की नींद कहाँ आ सकती है? *

× × ×

पृष्ठ १२—मेरा यह हृदय-कमल उसकी भौंरों के समान काली अलकों में उलझ गया था। ये आँसू उसी हृदय-कमल के मकरंद है, जो आँखों से झर कर गिर रहे है। हृदय की उसासें ही साँसो के रूप में बाहर निकल कर पवन मे मिल रही है। ÷

× × ×

पृष्ठ १२—जिस समय हृदय मे प्रेम अंकुरित हुआ था और उससे जो उसमे मीठा दर्द होता था वह मिलनावस्था में मन को मादकता से भर देता था और उससे जी को भी अच्छा लगता था। वह प्रेम का खेल मन को बहलाने का साधन भी था परन्तु अब विरह में वही प्रेम की पीड़ा हृदय को सहलाती नहीं, हिला देती है—विचलित कर देती है।

× इन पंक्तियों में वीभत्स रस की अवतारणा रसाभास पैदा करती है। शृंगार मे करुणा के मिल जाने से शृंगार तो चमक उठता है पर वीभत्स का मेल इसके सौंदर्य को फीका कर देता है। इसमे उर्दू शायरी का असर जान पड़ता है। जायसी ने भी 'रकत के आँसू' बहाये है!

* अभिलाषाओं की करवट में 'अभिलाषा' को मूर्त रूप दिया गया है, उसका मानवीकरण किया गया है। वासनाओं के जागने पर ही 'व्यथा' उत्पन्न होती है।

÷ प्रेमी प्रिय की काली अलकों के सौंदर्य पर रीझ उठा था और अब उसके विरह में वे ही 'अलकें' उसके जी को रुला रही है—रूपक अलकार।

पृष्ठ १२— सुख नष्ट हो गया है, उमंगें सो गई हैं; अतः जीवन भार गया है। अनिच्छापूर्वक ली गई साँसें बेगार ढोने के समान है (बेगार कोई प्रसन्नता से नहीं करता)। मैं जीना नहीं चाहता। यह हृदय, जिसका उल्लास-रूठ गया है, श्मशानवत् ही है, जहाँ केवल करुणा की ही सिसक सुन पड़ती है। *

× × ×

पृष्ठ १३—पपीहा 'पीपी' पुकार रहा है, श्यामा के स्वर से स्वभावतः ही रस झर रहा है; पर मेरी जीवन-कहानी का करुण भाग आँसू से भीगा हुआ है। वह 'पपीहे' और श्यामा की ध्वनियों से कैसे पुलक सकता है? ×

× × ×

पृष्ठ १३—संसार के व्यावहारिक पक्ष को सामने रखते हुए कवि कहते हैं कि जो अपने सुख में ही डूबे हुए हैं— उसीमें अपने को भुलाए हुए हैं और जिनकी व्यथाएँ सो गई हैं—जिनके हृदय की किसी की व्यथा को अनुभव करने की क्षमता ही पंगु हो गई है, उन्हें भला दूसरों के दुःख को सुनने का अवकाश ही कहाँ मिल सकता है? ÷

---

* यहाँ 'ढोने' शब्द में ही बेगार और 'अनिच्छा' का भाव व्यंजित हो जाता है!

× "श्यामा सवा या डेढ़ बालिश्त लम्बा एक पक्षी है जिसका रंग काला और पैर पीले होते है, पजाब के अतिरिक्त सारे भारत में पाया जाता है। यह घने जंगलों में रहता है। इसका स्वर बहुत मधुर और कोमल होता है।" 'चकित पुकारें' में प्रतीक्षा का भाव है।

× × ×

÷ कवि यहाँ शोषकवर्ग की मनोवृत्ति की ओर भी इङ्गित कर रहे हैं। जो सहृदय नहीं हैं, जिनमे किसी के आँसू देख कर दर्द की एक चमक भी नहीं उठती, उन्हें अपनी करुण-कथा सुनाने से लाभ ही क्या? यदि कोई हमारी व्यथा सुन कर एक उसास भी भर लेता है, तो हमारे पीड़ित हृदय को भारी सेहत मिलती है।

पृष्ठ १४ — मेरे जीवन की समस्या इतनी जटिल हो गई है — इतनी उलझन से भर गई है कि मुझे स्वयं आश्चर्य होता है। वह किसी योगी की जटा के समान कैसे बढ़ गई? मेरे हृदय में भी अब शुष्कता की धूल उड़ रही है — नीरसता छा गई है — जटाजूटधारी योगी की तरह मेरी यह अवस्था किसकी 'कृपा' का फल है? किसके कारण मै ऐसी उलझन भरी स्थिति मे पहुँच गया हूँ? *

× × ×

पृष्ठ १४ — आँसू कब बरसते है? जब वेदना की अनुभूति अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाती है; खूब संचित हो जाती है — घनीभूत हो जाती है। वेदना की अनुभूतियाँ मेरे मन में स्मृति के समान छाई हुई थी। दूसरे शब्दों मे मेरा सारा मन वेदना से व्याप्त था। स्मृति जब आती है तो सारा मन उससे भर जाता है। हमें जिस वस्तु का जब स्मरण आता है तब हमारा मन केवल उसी वस्तु का चिन्तन करने लगता है, उसमें वही वस्तु छा जाती है। कवि कहते है कि मेरे मस्तिष्क में पीडाएँ पूर्ण रूप से छाई हुई थी। जब संकट का समय आया — जब विरह की घड़ियाँ आई — तब वही जमा हुआ दर्द आँसू बन कर बरसने लगा। ※

× ×

पृष्ठ १५ — कवि को ऐसा भास होता है कि कोई उनकी दर्दकहानी सुनकर द्रवित हो रहा है और उनके प्रति सहानुभूति से भर रहा है। वे कहते है — मेरे रुदन के स्वर मे क्या कोई वीणा बज रही है, जिसे तुम (रुचिसे) सुन रहे हो? मेरे इन आसुओ के तारो से (चूँकि आँसू लगातार बह रहे है। इसलिए उनका 'तार' — धागा – ही बँध गया है।) अपनी करुणा का वस्त्र बुन रहे हो? दूसरे शब्दो में, मेरे ये अजस्र बहने वाले आँसू क्या तुम्हारे हृदय मे करुणा का भाव पैदा कर रहे है?

---

* कवि ने इन पक्तियो मे एक जटाधारी योगी का चित्र खीचा है। 'प्रिय' के अभाव में प्रेमी की अवस्था भी किसी 'योगी' से कम नहीं होती। 'सूर' की गोपियों ने भी ऊधव से यही कहा था कि हम विरहिणी 'योग' क्यों सीखे; हम तो स्वयं योगिनी बनी हुई है। 'धूल' शुष्कता का प्रतीक है। प्रिय की नीरसता व्यङ्ग्य है।

※ दुर्दिन' शब्द में 'श्लेष' है जिसके अर्थ है.-(१) संकट का समय और (२) पानी बादल का समय। कवि ने बरसात के समय का ही रूपक साधा है। 'घनीभूत पीड़ा' में पीड़ा के घनो की ध्वनि है। मस्तिष्क 'आकाश' और 'दुर्दिन' बरसात के द्योतक है। पीड़ा (सूक्ष्म वस्तु) की सूक्ष्म वस्तु स्मृति से उपमा दी गई है।

पृष्ठ १५ — मै रो- रोकर – सिसकियाँ भर भर कर-अपनी व्यथा तुम्हें सुनाता हूँ और तुम (उद्यान में) खड़े खडे फूल की पँखुड़ियों को तोड़ते जाते हो और ऐसी मुद्रा प्रदर्शित करते हो मानो कुछ जानते ही नहीं हो। तुम मेरी वेदना के कारण को जान कर भी अनजान बन जाते हो। तटस्थ रहकर मेरी व्यथा-गाथा को सुनते हो ? तुम्हारी यह तटस्थता मुझे अखर उठती है ; मै और भी सिसक उठता हूँ । *

[मेरे सुन्दर मन को तुम उपेक्षा प्रदर्शित कर तोड़ते जाते हो । अपने ही मन को सुन्दर कहने में ' अहं ' का भाव नही है, चूँकि उसमे प्रिय की तस्वीर खिची हुई है इसलिए वह स्वभावतः ' सुन्दर ' है। (एसे सुन्दर मन का नोचा जाना सचमुच निष्ठुर व्यापार है !) इसमे स्वभावोक्ति अलंकार है । लजवती का प्रेमी के मुख से प्रेममयी बात सुन कर तटस्थता प्रकट करना स्वाभाविक है। उसक सुमन नोचने मे तटस्थता नही है प्रत्युत एक मनोवैज्ञानिक व्यापार है पर प्रेमी उसमें उसकी निष्ठुरता का आभास पाता है। वह उससे बोल सुनने को उत्सुक है । पर वह लाज भरी नारी मौन है !]

× × ×

पृष्ठ १५—मेरी हृदय-वीणा से जो तान उठती थी वह इतनी करुण थी कि मै स्वय झूम कर मुग्ध हो जाता था और अपना भान भूल जाता था। बलिहारी है उस तान की ! ×

---

* (प्रिय की उपेक्षा भरी भाव-भगी का कितना लुभावना चित्र है यह ! ' सुमन ' में श्लेष है, जिसके अर्थ है (१) सुन्दर या अच्छा मन (२) फूल ।

× जिसकी दर्द भरी मीड़ लेकर स्वर निकलते थे वह कवि को कितना प्रिय था, यह इन पक्तियों से व्यञ्जित होता है। उसकी स्मृति जग जाने पर ऐसा प्रतीत होता था जैसे मन में कोई संगीत बह रहा हो। और तब कवि उसी में अपने को खो देते थे। स्मृति के साथ तन्मयता का भाव कितना आकर्षक है !

पृष्ठ १५—कवि कहते हैं—प्रिय के अभाव में हृदय में शून्यता छा गई है। सूने स्थान को पाकर ही उसमें अनेक भावों का तूफान उठता रहता है; दर्द बिजली की तरह रह रह कर चमक उठता है, उदासी और निराशाओं का समूह जमा हो जाता है। *

× × ×

पृष्ठ १६ (पद्य १, २)—जब मेरे हृदय में अत्यन्त उथल-पुथल मच जाती थी, और निराशा का घना अंधकार छा जाता था—जब मैं प्रियदर्शन क लिए व्याकुल हो उठता था, तब वह सहसा मेरे सामने बिजली-सी झलक दिखाता और मुस्कुरा कर मेरे हृदय मे रस की फुहिये बरसा जाता था। ÷

× × ×

पृष्ठ १६ (३) मेरे लिए यह ससार असत्य रहा है; इसमें केवल तुम्ही सत्य थे, 'जगत्' तो क्षण-क्षण परिवर्तनशील है, उसका सौन्दर्य भी स्थायी वस्तु नही है पर प्रिय का सौन्दर्य सदा ही ताजगी लिए रहा है इसलिये उसे 'चिर सुन्दर' कहा है। सौन्दर्य भी वही है जो सदा सुन्दरतर दिखलाई दे।

(ज्यौं-ज्यौं निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यौं-त्यौं खरी निकरै सुनिकाई।

—मतिराम)

इस कल्याणमय प्रेम-पथ के केवल तुम्हीं 'जनम-मरण' के साथी थे!

---

* इन पक्तियो मे कवि ने नए ढग क प्रतीको का प्रयोग किया है—झझा झकोर गर्जन' से भावो की तीव्रता प्रकट होती है। 'विजली' से रह रह कर दर्द का उठना जान पड़ता है, 'नीरद माला'—उदासी का चिह्न और 'शून्य हृदय'—आकाश का प्रतीक है इस तरह कवि ने इन पंक्तियो में रूपक अलकार की अच्छी योजना की है।

÷ कुटिया—हृदय का प्रतीक; प्रलय-घटा—हृदय की अत्यंत उथल-पुथल का प्रतीक, तमचूर्ण—नैराश्य का प्रतीक है। 'कौन बरस जाता था' में बरस शब्द बरसा के लिये प्रयुक्त हुआ है। छन्द-पूर्ति के लिये ह्रस्व कर दिया गया है।

० दार्शनिक इस जगत को मिथ्या कहते हैं पर तुम इस जगत के प्राणी होकर भी मेरे लिये कभी मिथ्या नहीं रहे। मैने तुम्हें सत्य ही माना और इसलिये केवल तुम्ही को इस जगत में अपना साथी अनुभव किया।

पृष्ठ १७—(१, २, ३,)तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा में मैंने कितनी रातें बिता दीं। जब सारा संसार सो जाता तब मैं अपलक आँखों से आकाश की ओर निहारा करता। रात में जो तारे जलते हैं, वे ही मानों मेरे सँजोए दीप हैं; जिन्हें मैंने आकाश-गंगा मे बहा कर तुम्हारी भेंट कर दिए हैं।※

× × ×

इतनी प्रतीक्षा के पश्चात् मेरे प्रियतम मुझसे मिलने आए; मैं गौरवान्वित हो उठा। उनका मेरे गृह आना उनकी प्रतिष्ठा—उनकी प्रकृति—के अनुरूप नहीं था। इसीलिए उन्हें सहसा अपने बीच देख कर मैं अपने को बहुत भाग्यशाली समझ हर्षातिरेक से इठला उठा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानों रात भर जिसका स्वप्न देखता था वही सबेरे सत्य बन आ गया! अपने स्वप्न को सत्य होते देख किसे हर्षोन्माद न होगा? प्रिय की प्रतीक्षा करते करते आँखें आँसुओं को बरौनियों में उलझा कर झप जाती थीं—('सुख का सपना हो जाना, भीगी पलकों का लगना।') सपने में उसकी झलक दिखाई देती थी। आँख खुलते ही जब साक्षात् वही 'मुसक्याता सा आँगन में' आ रस बूद बरसाने लगा तब मैंने अपने भाग्य को सराहा और हर्षातिरेक में इठला उठा। क्योंकि जिस बात की मै स्वप्न में कल्पना करता था वही सत्य बन गई थी।

× × ×

पृष्ठ १७—(३)—जब मैंने प्रथम बार तुम्हें देखा तब मीठी पूनों की रात मुसकुरा रही थी, चाँदनी बरस रही थी। पहली ही झलक में तुम मेरे हृदय के इतने निकट आ गये कि ऐसा प्रतीत होने लगा मानों हम वर्षों के परिचित हों।÷

※ इन पंक्तियों में किसी स्त्री का नदी में दीप जला कर बहाने का कितना सुन्दर चित्र आँखों के सम्मुख खिच आता है! आँखों का अपलक आकाश की ओर निहारने का भाव 'तारों के दीप जलाए' में कितना सजीव हो उठा है! 'निर्जन रजनी' से उस भींगी हुई रात का भाव व्यञ्जित होता है, जब 'सारा आलम सो जाता है'—सिर्फ दो ही आँखें जगती रहतीं और उनीदी होने से जलती भी रहती हैं। उनका यह 'जलना' ही दीप सँजाने के समान है।

÷ 'Love at first sight' में यही भावना अन्तर्हित है। प्रेमी के हृदय में प्रिय की प्रथम झाँकी से ही बिजली सी कौंध जाती है—वह उसी में मिल जाने के लिए आतुर हो उठता है। उसे ऐसा भान होने लगता है, मानों उसकी 'पदध्वनि' बरसों की पहचानी हुई हो। इस पद्य में 'मुसक्याती मधुराका' में—चाँदनी रात में—'प्रिय' के प्रथम दर्शन का भाव प्रकट होता है और यह भाव भी कि जब प्रथम बार तुम्हें देखा तो तुम मधुवर्षी ज्योत्स्नामयी रजनी के समान सुन्दर लगे थे।

पृष्ठ १८—तुम्हें देख कर मेरा हृदय उसी तरह तुम्हारी ओर खिच गया जिस तरह समुद्र की लहरों में चन्द्र-किरणों के मिलते ही चन्द्र की ओर खिचाव पैदा हो जाता है।

पृष्ठ १८—कवि को स्मरण आता है कि वह किस प्रकार प्रिय के रूप को आंखों से एकटक देखा करता था और वह रूप ऐसा था जो किसी भी सुकवि की प्रतिभा को भाव-वैभव से भर सकता था। उसके रूप-दर्शन से ही सुकवि प्रतिभावान् बन सकते थे। सौन्दर्य-दर्शन से सहृदय कवि में भावोन्मेष का होना प्रकृत बात है।

पृष्ठ १८—उसकी निकटता के कारण मेरे हृदय का प्रेम-रस भीतर ही भीतर झरता रहता था—घुलता रहता था और उसके आकर्षण की माया में ठगा-सा—(मन्त्र मुग्ध-सा) मैं अपना होश (चेतना) खो देता था। *

पृष्ठ १९—प्रिय के आगमन के पूर्व मेरे हृदय में 'शुष्कता छाई हुई थी।' 'पतझड़' का मौसम बसा हुआ था, पर जब 'वह' आया तो मेरा हृदय हरा-भरा हो उठा—रसमय बन गया। †

पृष्ठ १९—(२)—जब मेरा जीवन अपने अन्तिम प्रहर गिन रहा था, तुम अपने चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख पर घूंघट डाल और अंचल में सँजोया हुआ दीप छपा कर मेरी देहली पर आई। तुम्हारे इस प्रकार अचानक आगमन ने मेरे हृदय को कुतूहल से भर दिया। 'कुतूहल' इसलिए कि तुम अप्रत्याशित आई और उस समय आईं जब मेरे जीवन की सूर्य-किरणें अपना अन्तिम उपसंहार क्षितिज पर लिखने को उद्यत थी! 'कुतूहल' इसलिए भी

---

* ('माधवी-कुञ्ज'—प्रिय का प्रतीक है और 'छाया' उसके सान्निध्य की द्योतक है।)

† (पतझड़ 'शुष्कता'; सूखी-सी फुलवारी, 'नीरस जीवन', किसलय नवकुसुम सरसता और क्यारी—'हृदय' के प्रतीक हैं।)

हुआ कि तुमने अपने 'रूप' पर आवरण डाल रखा था। मैं उसे देखने को उत्सुक था पर 'पर्दे' के कारण असमर्थता बढ़ गई थी ! ✻

× × ×

पृष्ठ १९ (३) और पृष्ठ २० (१)—इन दो पद्यों में यह बतलाया गया है कि "प्रिय" का रूप प्रेमी की आँखों में किस प्रकार बस गया। कवि कहते हैं कि जिस प्रकार घन में बसी सुन्दर बिजली में चंचलता लिए कौंध, आँखों में काली पुतली, पुतली में 'श्याम' की झलक; और मूर्ति में प्राणों की प्रतिष्ठा-सी भली लगती और अपनी विशेषता स्थापित करती है उसी प्रकार तुम्हारा सौंदर्य मेरी आँखों में बस कर मुझे सजीव बना रहा है – मुझमें स्वयं रूप की आभा भर रहा है। तुम्हारा सौदर्य ऐसा है कि जिसकी समता लाखों में भी नहीं हो सकती। वह सबसे निराला है। मेरे हृदय पर विश्व में बिखरे सौन्दर्य ने कुछ भी प्रभाव न डाला—केवल तुम्हारे रूप ने ही उसमें अपनी रेखा अङ्कित कर दी है। मन पर प्रतिदिन अनेक अनुभूतियाँ सचित होती रहती हैं; पर तुम्हारी सौदर्यानुभूति ऐसी थी जो सबसे पृथक थी—सबसे अधिक प्रभावोत्पादक थी।÷

✻ (इन पंक्तियों में 'सूफीवाद' देखने का भी कुछ सज्जन कष्ट करते हैं। सूफी कहते हैं कि परमात्मा के रूप की ज्वाला इतनी प्रखर होती है कि उसे भौतिक आँखों से नहीं देखा जा सकता। अत: जब वे किसी साधक पर 'कृपा' करते है तो अपने मुख पर आवरण डाल कर ही उसे झलक दिखाते हैं। इस पद्य में श्रद्धालु 'नारी' का चित्र स्पष्ट है, जो अपने देवता के दर्शन को भक्ति की भेंट चढ़ाने उसके मन्दिर में पहुँची है। अन्तिम पंक्ति में 'तुम आए' से पुरुष का बोध होने लगता है। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि 'प्रसाद' की रचनाओं में लिंगविपर्यय बहुत मिलता है। वे उर्दू शायरों की तरह ही 'प्रिय'—माशूक-को लिङ्गातीत मानते है। फारसी में उसे प्राय: पुल्लिग में ही सम्बोधित किया जाता है। इससे यह होता है कि 'आलम्बन' की 'सीमा' 'असीम' को भी छूने लगती है और व्यापक अर्थ व्यंजित होने लगता है।

÷ 'प्रसाद' ने 'हृदय' और 'मन' में कोई भेद की लकीर नहीं खींची है। स्वयं मनोवैज्ञानिक भी इन दो की स्थितियों में एकमत नहीं हैं।)

पृष्ठ २०—यह मानता हूँ कि ससीम होने के कारण तुम्हारे 'रूप' की सीमा है। पर मैंने तुम्हें अपनाते समय अपने मन में कोई सीमा नहीं बाँधी थी। मेरा समस्त मन ही तुममें व्याप्त हो गया था। मैं पूरे मन से ही तुमसे प्रेम करने लगा था। मेरे मन में केवल तुम्हारी मूर्ति विराज रही थी ! *

× × ×

पृष्ठ २०—(३) प्रिय का वह कलापूर्ण सौंदर्य इतना भला लगता था कि उस पर रूप के शैल राई के समान वारे जा सकते थे। ×

× × ×

पृष्ठ २१—(१)—इस और आगे के कुछ पद्यों में 'प्रिय' के स्थूल रूप का चित्रण किया गया है—

'प्रिय' का मुख विधु के समान सुन्दर था; उसके काले केश बँधे हुए थे; जिनमें मोतियों की माँग भरी हुई थी। कवि कल्पना करते हैं—किसने चंद्रमा (मुख) को काली जंजीरों (काले-काले बालों) से बाँध दिया है? (माँग में मोती भरे देख कर कल्पना उठती है) सर्प (बाल) के मुख (फन) में तो मणि रहते है पर इन सर्पों के मुख में 'हीरे' (मोती) क्यों भरे हैं ? ※

---

* 'चिर यौवन' साभिप्राय व्यवहृत है। 'प्रेमी' की आँखों में 'प्रिय' का यौवन कभी ढलता ही नही, वह सदा खिला ही रहता है। 'स्थूल' वस्तु का ही 'रूप' हो सकता है। अत प्रिय के इहलोक के प्राणी होने से स्वभावत: उसका रूप उसके 'शरीर' का ही ओज हो सकता है। इसलिये कवि ने 'प्रिय' के यौवन में रूप की सीमा स्वीकार की है। मन की कोई सीमा नहीं है; वह निस्सीम है। 'प्रिय' के 'सीमित' होते हुए भी वे असीम मन में समा गये थे। विरोधाभास द्वारा मन में केवल एक ही 'भाव' की व्याप्ति की कितनी स्वाभाविक व्यंजना की गई है !

× 'वारी' के स्थान पर यदि 'वारा' होता तो 'लिंग-विपर्यय' से अर्थ की किंचित् क्लिष्टता न रह पाती।)

※ साध्यवसाना लक्षणा—इसमें केवल उपमान का ही कथन किया गया है। उपमान का ही उल्लेख होने से रूपकातिशयोक्ति अलंकार का भी यह उदाहरण है।

पृष्ठ २१ — (२)—* प्रिय की आँखें ' श्याम ' हैं; ' रतनार ' हैं। उनमें जवानी का मतवालापन न जाने कितनी लालिमा भर रहा है। काली आँखों में गुलाबी रग छाया देख कर ऐसा प्रतीत होता है मानों किसी ने नीलम की प्याली (आँख) को माणिक (लाल रग) की मदिरा से भर दिया हो।

× × ×

पृष्ठ २२——(१)— इन पक्तियों में ' कजरारी आँखों ' का प्रभाव वर्णित है। प्रेमी की आँख प्रिय के रूप को देखते देखते उसकी कजरारी आँखों मे ठहर जाती है। उनमे जो काजल की रेखा खिची हुई है वह ऐसी सुन्दर लगती है कि हमारी आँखे उसी को घंटों देखने को ललच उठती हैं। वे वहाँ से हटना ही नहीं चाहती। वह कज्जल-रेखा काले पानी के समुद्र के किनारे के समान है—— जहाँ उतर कर कोई जल्दी वापस नही लौटता। ✲

पृष्ठ २२ — इस पद्य में ' प्रिय ' की बरौनी को ' चितेरी ' का गौरव दिया गया है। जो उसकी ' कजरारी आँखों ' की ओर देखता है, या जिसकी ओर वह कटाक्ष करती है, वही आहत हो जाता है। कवि कहते हैं कि जो तेरी ओर या तू जिसकी ओर दृष्टि फेकती है, उसकी आकृति तेरी पुतली में खिच आती है। कवि कल्पना करते है कि बरौनी ही तूलिका है जो घायल हृदयों का तेरी क्षितिज के समान पुतली के पट पर चित्र खीचा करती है और चित्र खीचने की इस कला में वह काफी चतुर है। *

✲ गुरुतर अपराध में अपने देश में पहिले अंग्रेजों के शासन-काल में ' काले पानी का दण्ड ' दिया जाता था। अंडमान टापू को भेजा जाना ही ' काले पानी का दण्ड ' था, —जहाँ अपराधी काफी लम्बी अवधि बिता कर, यदि जीवित रहा तो, घर लौट आता था। ' प्रिय ' का ' रूप-दर्शन ' भी एक भारी अपराध है जिसकी सजा ' काले पानी ' से क्या कम हो सकती है ? अतएव जिसने उसकी कजरारी आँखे देख लीं उसका जल्दी छुटकारा संभव नही है — वह उन्हीं मे बँध जाता है ! ' रूप ' को अतृप्ति-जलधि ' उचित ही कहा गया है। जिस तरह समुद्र का पानी खारा होने के कारण उससे किसी की प्यास नही बुझती—तृप्त नही होती, उसी प्रकार ' प्रिय ' के रूप को बार-बार आँखों से पीकर भी उनकी प्यास नही बुझती। वे अतृप्त ही रह जाती हैं। वह जलधि जो प्यास को हमेशा जगाए ही रहता है—— ' अतृप्ति जलधि ' ही कहा जा सकता है। ' नीलम की नाव निराली '—प्रेमी दर्शक की आँखों के लिए व्यवहृत हुआ है।

* देखनेवाले नायिका की आँखों में सदा के लिये बँध जाते हैं। आँखें दर्शकों को घायल बना कर अपने अंदर चित्रित कर लेती हैं—बन्दी बना लेती हैं।

पृष्ठ २२— इस पद्य में मुसकुराहट और भौहों के प्रभाव का वर्णन है —

तेरे कोमल कपोल के अङ्क (अधर) में सरल मुसकुराहट अङ्कित रहती है पर उसकी वक्रता वही समझ सकता है, जिसने तेरी भौहों का बाँका-पन—टेढ़ापन-देखा है। तेरी सरल मुसकुराहट भी बड़ा क़हर बरसाती है; वह सीधी सादी ' दिखाई ही देती है, भौहें जो तूफान मचाती हैं उनसे हमें आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि वे तो अपनी ' टेढ़ी प्रकृति ' प्रकट ही कर रही हैं पर तेरी मुसकुराहट में बड़ा छल है— बड़ी कुटिलता है। वह सीधी दिखाई देकर भी कुटिल कार्य करती है।

× × ×

पृष्ठ २३— इस पद्य में ' दाँतों ' की शोभा वर्णित है।

मूंगे के सदृश लाल ओठों (सीपी-सम्पुट) की सीपी में ये मोती के समान दाँत क्यों हैं ? मोती तो हंस चुगते है, पर यहाँ हंस कहाँ है ? ओठों के ऊपर तो शुक की चोंच (नासिका) है। फिर इसे चुगाने को ऐसे मोती क्यों रखे गये हैं ? ×

पृष्ठ २३—इस पद्यमें 'प्रिय' की हँसी का उल्लासपूर्ण वर्णन है। उसकी हँसी में इतनी ताज़गी, इतनी मस्ती है कि मधुर उषाकाल में खिला हुआ कमल का वन भी यदि उसे (हँसी को) देख ले तो लज्जित हो जाय। उसकी हँसी में इतना माधुर्य और इतनी मस्ती है कि प्रातःकालीन खिले कमल के फूल भी मात हो जाते हैं। वे उसके सामने मुरझाये से दिखाई देते है। उषःकाल में फूलों में स्वयं ताज़गी रहती है, पर वह ताज़गी प्रिय की हँसी की ताज़गी और माधुरी को कहाँ पा सकती है ? *

× × ×

पृष्ठ २३—इस पद्य में 'प्रिय' के 'कानों'(कर्ण-शष्कुली)का वर्णन है।

हिंदी और संस्कृत साहित्य में भी प्रेयसी के कानों के वर्णन की परम्परा नहीं मिलती। इस दृष्टि से इस वर्णन में नवीनता है—

× इस पद्य की उपमाओं में कोई ताजगी नहीं है। ' विद्रुम सीपी सम्पुट ' में साध्यावसाना लक्षणा है। मोती के दाने में भी यही लक्षणा है। " है हंस न ..... आदि में अपह्नुति अलंकार है।

* इसमें अप्रस्तुत से प्रस्तुत की अच्छी व्यञ्जना की गई है।

मुख-कमल के पास ही कमलिनी के कोमल दो पत्ते (कर्ण-शष्कुली) सजे हुए थे। इसलिए तो उन कानों में किसी का दुख:पूर्ण स्वर नहीं ठहर पाता था; क्योंकि कमल-पत्र पर 'जल-बिंदु' कहाँ स्थिर रहते हैं? वे तो नीचे ढुलक ही जाते हैं। ×

× × ×

पृष्ठ २४—(१)—इस पद्य में दोनों बाहुओं का रूप-वर्णन है। प्रिय के बाहुद्वय इतने सुन्दर और अलबेले लगते हैं कि कवि का आश्चर्य पूछ उठता है—ये किस कामदेव के धनुष की ढीली प्रत्यंचा है? क्या यह लता तो नही है या शरीर के रूप-सरोवर में उठने वाली नई लहरें तो नहीं हैं? ✻

पृष्ठ—२४(२)—प्रिय के पवित्र शरीर की शोभा का ओज इतना माधुर्य बरसा रहा था कि कवि कल्पना करते हैं कि यदि बिजली (जो स्वयं उज्ज्वल और सुन्दर है) पूनो की चाँदनी (चंद्रिका-पर्व) में स्नान कर आये और उसके बाद उसमें जो कान्ति झलके वह 'प्रिय' की कान्ति की समता कर सकती है।*

× × ×

पृष्ठ २४— (३) प्रिय के मन में चाहे छल ही क्यों न भरा हो पर मेरा उसमें बहुत ही गहरा विश्वास था। मैं तो उस मायाविनी के निकट जाकर स्वयं कुछ सच्चा बन गया था। मैंने अपनी सच्ची भावनाओं की ही उसपर अञ्जलि चढ़ाई थी।

✻ ✻ ✻

पृष्ठ २५—(१) प्रिय ने प्रेमी की भावनाओं के साथ अपनी भावनाओं का रस नहीं उँड़ेला। तटस्थता ही प्रदर्शित की। अत: कवि के झुँझलाहट भरे उद्गार हैं—

क्या प्रेमी केवल सौंदर्य का ही पुतला था? उसमें बाहरी आकर्षण का ही साधन मात्र था? क्या उस रूप की आकृति के भीतर धड़कन लिए हुए हृदय नहीं था?

× दु:ख को 'जल-विन्दु' कहना भाव-पूर्ण है। दु:ख आँखों के पानी (आँसू) के रूप ही में बाहर प्रकट होता है।

✻ सन्देहालंकार

* प्रिय की शोभा बिजली और पूनो की रात की सम्मिलित शोभा के समान थी।

क्या यह तो नहीं था कि मुझे भावुक (चैतन्य) जान कर ही उस (प्रिय) ने तटस्थ (जड़) रहकर दिखावटी प्रेम का प्रदर्शन किया था ?

❋ ❋ ❋

पृष्ठ २५—(२)—कवि कहते हैं 'उनकी' बिखरी अलकों ने ही मेरे जीवन् में उलझन पैदा कर दी थी। उन्होंने मेरे हृदय में प्रेम का अंकुर जमा दिया था। जब मैं उनके बिखरे बालों पर मुग्ध हो गया तो मुझे अपना भान नहीं रहा। मुझे पता नहीं, किसने मेरे जीवन का प्रेमरस पी लिया? मुझे अपने वश कर लिया। ❋

[इस पद्य में भाषा की दृष्टि से रचना दोषमय हो गई है। पहिली पंक्ति में 'मेरे जीवन' कहा गया है और अन्तिम में 'हमारी पलकें'। 'हमारी' के स्थान पर 'मेरी' होना चाहिए था। यदि चतुर्थ चरण में 'हमारी' अभीष्ट था तो प्रथम चरण में 'हमारे जीवन' चाहिये था। 'मैं और हम' का विनिमय कई स्थानों पर पाया जाता है।

(१) **मैं बल खाता जाता था, तीखी थी तान हमारी।**
(२) **कुटिया पर आकर मेरी, रस-बून्द हमारे मन में।**
(३) **प्रियतम मिलन को मेरे......तुम लगे उसी क्षण हमको।**

पर तुक के झमेले ने यह दोनों सम्मव नहीं होने दिया। प्रथम दो पंक्तियों में विरोधाभास है। कार्यकारण लक्षणा का भी यह अच्छा उदाहरण है।]

× × ×

पृष्ठ २५—(३)—ज्यों-ज्यों मेरा आकर्षण उसकी ओर बढ़ता जाता था, मेरे मन की शांति मेरा उपहास करती जाती थी। यद्यपि मैंने अपने मन को उसके प्रेम में बाँध दिया था, तो भी मुझे भला ही लगता था—सुख ही मिलता था। उस समय दुःख (करुणा) पास नहीं फटकता था—दूर ही रहता था। प्रेम का बन्धन सुख ही प्रदान करता था। ×

❋ प्रेयसी की अलकों ने प्रेमी को आकर्षित किया था। यह भाव पहिले भी व्यक्त किया जा चुका है।

" इस हृदय कमल का घिरना,
अलि अलकों की उलझन में।"

× करुणा का ऐंठना से तात्पर्य है, दुःख का दूर रहना।

पृष्ठ २६—(१)—प्रकृति भी कवि के उल्लास में हर्ष-विकम्पित हो उठी है। वृक्षों में सुन्दर पत्ते झूम रहे हैं; शाखाएँ परस्पर गले मिल रही हैं, भौंरे गूंज कर अजीब तान छेड़ रहे है ! ऐसा जान पड़ता है मानों फूलों पर बैठ कर उनका चुम्बन ले रहे हों ।

पृष्ठ २६—(२) मधुपों की तान जब वन-उपवन में गूंजती थी तो ऐसा प्रतीत होता था मानों मुरली बज रही हो । कलियाँ जो खिलती थी तो ऐसा प्रतीत होता था मानों मधुपों की तान सुन कर वे हँस उठी हों। मधुपों की मीठी गुंजार कलियों के 'मधु'-भार को पार कर उनके कानों तक जैसे पहुँच जाती हों ! ❋

पृष्ठ २७—इन पद्यों में संयोग शृंगार का चित्रण है—'प्रेमी' का वक्षस्थल 'प्रिय' की धड़कन गिन रहा है (दोनों परस्पर आलिंगन-बद्ध हैं;) प्रिय के अधर प्रेमी के ओठों पर रखे हुए हैं और इस प्रकार प्रेमी को प्रिय के निश्वास के मंद-मंद झोंके मलय पवन की मधु-गंध से रस-सिक्त बना रहे हैं। प्रेमी कहता है कि मैं प्रात: प्रिय के शीतल मुख-चन्द्र पर अपना मुख रख कर उठता था। ×

पृष्ठ २७—(२)—(जब प्रिय आलिंगन में बद्ध होती और) उसका चंद्र सा मुख मेरे वक्षस्थल में छिपा होता उस समय मेरे वस्त्र नक्षत्र के समान प्रस्वेद की बुन्दों से भींग उठते । मिलन की वह सुख भरी रात भी थकी जान पड़ती थी। ÷

❋ मुरली भौरों की गुंजार के लिए प्रयुक्त ।

× उठने के पूर्व प्रेमी प्रिय का आलिंगन और चुम्बन करता था।

÷ इस पद्य में चाँदनी रात का रूपक बाँधा गया है। प्रेमियों की मिलनावस्था ही सुख की रात है। वक्षस्थल में छिपा हुआ प्रिय का मुख ही चंद्र है; वस्त्र-पट ही आकाश है और वस्त्र पर सात्विक भाव के कारण प्रेमियों के शरीर से निकले हुए जो स्वेद-कण छाये हुए हैं, वे ही मानों तारे हैं।

पृष्ठ २७--(३)--अब कभी प्रिय से इस प्रकार का 'भौतिक मिलन' न होगा। इसी को कवि इस प्रकार कहते हैं--वह अलस भरा सौंदर्य लिए प्रेमिका फिर से मिलन-कुञ्ज में सोकर मुझपर सुख की वर्षा नही करेगी। मैं अब उसके साथ साथ सुख के स्वप्नों को नहीं देख सकूंगा। ×

\+ + +

पृष्ठ २८--(१)--प्रिय का बिछोह हो गया है। अब तो मन के आवेग उसके 'दर्शन' के लिए रह रह कर छटपटा उठते हैं--मन की इच्छाओं में रूप-दर्शन की प्यास भरी हुई है। इस समय मेरा हृदय (भँवरपात्र) उसके अभाव में 'शून्यता' अनुभव कर रहा है। कवि अपनी रिक्तावस्था का अनुभव कर 'प्रिय' से शिकायत करते है कि तुम्हीं ने मेरे मानस का समस्त रस पीकर मेरी हृदय-प्याली को खाली बना कर फेंक दिया है। दूसरे शब्दों में जब तक तुम्हें मेरे साथ रस अनुभव होता था, तुमने उसका उपभोग किया; अब जब मुझ में कोई नवीनता न रह गई, कुछ रस न बच रहा तो तुमने अपनी आँखें फेर लीं।

× × ✠

पृष्ठ--२८--(२)--हमारे मानस में प्रेम-कमल खिला और अब विरह मे मुरझा गया। परिणामत: आँसू के रूप में उसके केशरकण बिखर रहे है; और उसासों के रूप में पराग उड़ रहा है।

✠ ✠ ✠

पृष्ठ २९--(१)--प्रिय का सान्निध्य-सुख प्रेमी को अधिक समय तक आनन्दविभोर नहीं रख सका। इसलिए अतृप्ति उसे रह रह कर व्याकुल बना देती है। वह उसी की स्मृति में चीख उठता है--

वे प्रिय की मिलन-घड़ियाँ कुछ क्षण ही रह कर क्यों बीत गईं? उसकी मलय समीर सी ताज़गी भरनेवाली प्रेम-भावनाएँ मुझे जरा ही छूकर क्यों वापस लौट गईं? उसने जो मुझ पर दया-दृष्टि की थी वह अब क्यों फिर गई?

\+ + +

पृष्ट २९--(२)--प्रिय के वियोग में मैं अपना भाव खो चुका हूँ (विस्मृति है); उसकी स्मृति मुझ में मादकता भर देती है; मन मूर्च्छित हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है, वे मिलन की सुख-घड़ियाँ सत्य नहीं

× चाँदनी रूपमयी प्रेमिका के लिए व्यवहृत हुआ है।

थीं—मैंने उनका अनुभव कदाचित् स्वप्न में किया था। मैं यह भी सोचने लगता हूँ, कदाचित् मैंने उसके 'मिलन-क्षणों' की केवल कल्पना ही की है—वास्तव में मेरा उनका कभी मिलन नहीं हुआ। अब तो 'मधुर-भावनाओं' की स्मृति ही एकाकी जीवन में गूंज रही है।*

* * *

पृष्ठ ३०—(१)—प्रिय के आगमन के पूर्व मेरा हृदय हीरे के समान कठोर था; पर जब उसके कोमल रूप के दर्शन हुए तो उसकी कठोरता चूर चूर हो गई। सिरस के फूल के समान सुकुमाराङ्गी ने हीरे से कठोर हृदय को कुचल कर टुकड़े टुकड़े कर डाला—यह क्या कम आश्चर्य की बात है! मिलनावस्था में जो प्रेम बर्फ के समान शीतलता प्रदान करता था, विरहावस्था में वही अंगारे बरसाने लगा है। (एक ही वस्तु भिन्न परिस्थितियों भिन्न प्रभाव उत्पन्न करती है।)

* * *

पृष्ठ ३०—(२)—जब सूर्य के ढल जाने पर संध्या हो जाती चारों ओर धुंधलापन छा जाता और कमल भी संकुचित हो जाते—मानों भौरों से छिपना चाहते हों। तब हम मिलन की उत्कंठा में विह्वल हो प्रतीक्षा में रोते रहते।*

पृष्ठ ३०—(३)—मेरा हृदय मक्खन के समान स्निग्ध था इसी-लिए प्रिय की रूप-ज्वाला के संसर्ग से अविलम्ब दीपक के समान जलने लगा। अब विरह में निराशा भर गई है—अँधियारी छा गई है। दीपक जल कर जब बुझने लगता है तो वह धुएँ से स्थल को भर कर अँधियारी का चित्र खींचता सा प्रतीत होता है और बुझते ही उसके चारों ओर अँधियारी छा जाती है। अतः जल जल कर एक ओर तो वह प्रकाश फेंकता है और दूसरी ओर धुआँ छोड कर अंधकार की सृष्टि करता है।

---

* यहाँ 'मुरली' मधुर भावनाओं की प्रतीक है।

* धुंधली संध्या उद्दीपन विभाव और 'रोना' अनुभाव हैं। डूबते दिन का धुंधलापन और सध्या का आगमन प्रिय की मिलन-उत्कंठा को उत्तेजित करते थे। इसी से विरही रो उठते थे।

पृष्ठ ३१—(१)—रात में चारों ओर शांति छाई हुई दिखलाई दे रही है। रस-लोलुप भौंरों की गुंजार (मुरली) अब नहीं सुन पड़ती, क्योंकि अब वे कमलिनी के 'कोष' में बंद हो गए थे। यह नीरव वातावरण प्रिय की स्मृति आँखों में बसाने लगा। निराशापूर्ण हृदय में प्रेम की यमुना बहने लगी। *

× × ×

पृष्ठ ३१—(२) रात भर प्रिय की प्रतीक्षा करते करते मेरा मन प्रातः निराश होकर गिर जाता—उदास हो जाता। मेरे मन की अवस्था उस सिरस के फूल के सदृश हो जाती जो वसंत—ऋतु में रात के पिछले पहरों में खिलता है और सूर्य की किरणों के स्पर्श से ही मुरझा कर जमीन पर गिर कर धूल में मिल जाता है। प्रिय की प्रतीक्षा में मैं रात भर खिला सा रहता पर जब सूर्य की किरणें पूर्व के वातायान से झाँकने लगती तो मैं निराश हो जाता—मेरा मन छिन्न-भिन्न हो जाता—मेरा उत्साह धूल में मिल जाता।

× × ×

पृष्ठ ३१—(३)—[रात भर 'प्रिय' की उनींदी आँखों से प्रतीक्षा करने के पश्चात् भी जब उसकी झलक नसीब नहीं होती तो प्रेमी सबरे विरहो-च्छ्वास छोड़कर रह जाता है।] प्रकृति भी उसकी विपन्नावस्था का साथ देती है। प्रातःकालीन मलय समीर मधु सौरभ के साथ इस तरह धीरे धीरे बह रहा है मानों वह किसी के विरह में व्याकुल हो, उससे छोड़ कर जा रहा हो।

× × +

पृष्ठ ३२—(१)—प्रातःकाल पौ फटने के समय पूर्व दिशा पीत रंग से रंजित हो जाती है। कवि कहते है, सूर्य की किरणो के चुम्बन से मानों पूर्व सुन्दरी के कपोल पीले पड़ गए हैं। (यहाँ कवि ने लज्जा से कपालो में लाली नहीं दौड़ाई। ऐसा प्रतीत होता है; 'सुन्दरी चुम्बन का रसास्वाद नहीं ले रही थी—वह स्वयं अनमनी थी। इसीसे उसके कपोलों में स्वाभाविक लज्जा का रंग न छा, भय या दुःख की भावना संचरित हो गई।) मैं उसके दर्शन की लालसा से रातभर नभ की ओर देख देख कर प्रातः समय तक निराश हो जाता और तब मेरी आँखें झप जाती थी।

---

* वातावरण की नीरवता ही रति-भाव को उद्दीप्त कर रही थी।

पृष्ठ ३२–(२)–प्रातःकाल पृथ्वी का हरा भाग ओस से भर गया था। कवि कल्पना करते हैं कि वे ओसकण नहीं थे, वे तो मेरे ही प्रेम के आँसू थे जो प्रभात समय मैंने निराशावस्था में अपनी आँखों से गिराये थे। ऐसा प्रतीत होता है मैं ही खाली बादल बन कर गगन में छा गया था और आँसुओं के मोती बरसा कर पैन पृथ्वी के अंचल को भर दिया था।

× × ×

पृष्ठ ३२–(३)–मैंने प्रिय के सौंदर्य के दर्शन का जो रस एक बार पी लिया वह मेरे लिये नशा बन गया। जिस प्रकार मदिरा का प्याला ओठों से लग जाने पर ओठों की प्यास बढ़ा देता है—वे बार बार उसे अपने से लगाने को व्याकुल होते रहते हैं; उसी प्रकार आँखों ने जब से उसके रूप-दर्शन किये तब से वे बार बार उसे देखने को छटपटाने लगी हैं। रूप-दर्शन से ही मेरा हृदय ऐसा विकल हो उठा था जैसे ज़हर पी लिया हो। अब वही विष मेरे लिए मदिरा बन गया है। विष तो व्यक्ति एक ही बार पीना चाहता है पर मदिरा बार बार पीने की इच्छा करता है। मेरी आँखें बार-बार उसी रूप को देखने को व्यग्र हैं। अब तो मेरे हृदय में उन सुन्दर पलकों के प्याले का प्रेम जीवन की साध बन कर बस गया है। मेरा जी उन सुन्दर पलकों के प्याले को अपने ओठों से लगाने को व्यग्र हो गया है। मैं उन सुन्दर पलकों को चूमना चाहता हूँ।

× × ×

पृष्ठ ३३–(१)–जिस समय मैंने प्रिय का पूर्ण विकसित सौंदर्य देखा, मेरे हृदय का प्रेम समुद्र सा लहरा उठा, जाग उठा। पूर्णिमा की रजनी जब अपने वैभव को लेकर खिल उठती है तब समुद्र की लहरें चाँद की किरणों का आलिंगन कर इतने वेग से बढ़ती हैं मानों चाँद को ही छू लेंगी। अब उसके ओझल हो जाने पर मैं रत्नाकर ही में 'उसकी' परछाईं को चमकते हुए अनुभव करता हूँ।

× × ×

पृष्ठ ३३—(२)—इस पंक्ति में 'सौन्दर्य' ही परमात्मा है' (Beauty is God) की भावना व्यक्त की गई है—

सौन्दर्य के पर्दे में परमात्मा ही हमें मधुर मुरली बजा कर मानों आकर्षित कर रहा है। संध्या और अमा-निशि में भी वही (परमात्मा) अपना खेल खेलता दिखाई देता है। प्राकृतिक रूपों में भी परमात्मा की सत्ता का भान कवि को होता है।

पृष्ठ ३३—(३)—इस पद्य में कवि ने आध्यात्मिक अनुभूति के साम्प्रदायिक विश्वास को प्रकट किया है। सूफियों की आस्था है कि परम-प्रिय परमात्मा 'हाल' की—स्वप्न की—दशा में आते है और साधक जब होश में आ जाता है तो वे ग़ायब हो जाते हैं—चले जाते हैं, उनके चले जाने पर हम एकाकी तड़पते रह जाते हैं। जैसे नशे के उतर जाने पर पुनः एक घूंट की प्यास हमें बेचैन बना देती है उसी तरह विरह हो जाने पर मिलन की उत्कंठा व्याकुल बना देती है। महादेवी ने भी इसी भावना को यों व्यक्त किया है—

"वह सपना बन बन आता,
जागृति में जाता लौट।"

× × ×

पृष्ठ ३४—मेरे हृदयाकाश में बिजली बन कर तुम आये और अब इन्द्रधनुष क समान रंगीन विविध स्मृतियों को छोड़ कर चले गये हो। ×

× × ×

पृष्ठ ३५—(१)—प्रिय की स्मृति पुष्प-रस और मेघमाला के समान आती है जिसमें मेरे हृदय-विपिन की कली सरस बन कर खिल उठती है। *

× × ×

पृष्ठ ३५—(२)—इसके पूर्व पद से कवि 'स्मृति' से व्याकुल नहीं होते—हर्ष मनाते हैं। वे कहते हैं—तेरी स्मृति के मधुरस की वर्षा से मेरा हृदय ओस-कण के समान भीग गया है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों कोई मेरे मन-मन्दिर पर मोतियों की ढेरी बरसा रहा हो। ÷

× × ×

पृष्ठ ३६—(१)—कवि अब प्रकृति के व्यापारों में प्रिय का स्पर्श अनुभव करने लगा है। इससे उसके तप्त हृदय को सेहत मिलती है।

'यह शीतल समीर जो बह रहा है तुम्हारा पवित्र स्पर्श करके आता है। इसी से जब वह मुझे छूता है तो मैं (सात्विक भाव से) आँसू बहा कर सिहर उठता हूँ ऐसा जान पड़ता है मानों तुम्हारा ही स्पर्श हुआ हो।

×—'चचल चपला से' का आशय यह है कि 'प्रिय' की झलक क्षणिक ही मिली थी।

*—स्मृति को मकरंद की समता इसलिए दी कि वह मकरंद के समान ही रस और मादकता उत्पन्न करती है। मेघ हर्ष और गहरेपन का द्योतक है।

÷—कवि प्रिय की स्मृतियों को अपने मन में बसा कर अपने को धनी अनुभव कर रहा है।

पृष्ठ ३६—(२)—रात को मालती लताएँ तरु के सहारे (तकिया लेकर) लिपटी सोई रहती हैं और मैं व्यर्थ ही प्रिय की प्रतीक्षा में आकाश के तारे गिनता रहता हूँ। (इस पद्य से पुनः कवि का विषाद रो उठता है। कवि अपनी स्थिति से समझौता करने का प्रयत्न करते हैं—कभी सफल होते हैं; कभी असफल।)

पृष्ठ ३६—(३)—कवि पुनः सँभलते हैं। कहते हैं—निष्ठुर! ओझल होकर तूने क्या समझा है? क्या तू समझता है मैं अकेला रहूँगा? मैं सर्वथा एकाकी नहीं रहूँगा—मिलन की आशा भरी विरह-निशा रहेगी और तेरे विरह का दुःख भी तो मेरे साथ रहेगा। दुःख मुझे तेरे निकट ही रखेगा।

× × ×

पृष्ठ ३७—(१)—जब संध्या छा जाती है तो आकाश में लालिमा फैल जाती है। उस समय कब रात की अँधियारी छा जाती है, हम सहसा नहीं जान पाते। आकाश की लालिमा को कब निशा की कालिमा ढँक लेती है, इसका ज्ञान हमें नहीं हो पाता। देखते-देखते ही मानों सोने के जाल पर काली चादर छाने लगती है। *

× × ×

पृष्ठ ३७—(२)—अब मेरा हृदय तुम्हारे प्रेम-रंग में इतना अधिक रँग गया है कि प्रयत्न करने पर भी—आँसू के पानी से धोने पर भी—वह नहीं छूटता। यह प्रेम का रँग कैसा अनोखा है? ❈

❈ ❈ ❈

पृष्ठ ३८—(१)—तेरी मूर्ति कला की कामना बन कर खिली हुई थी, जो मेरे हृदय-पटल पर मेरी अभिलाषा बन कर खिंच आई थी, जिसे मैं चाहने लगा था। †

❈ ❈ ❈

---

* इस पद्य में 'प्रसाद' का नियतिवाद ध्वनित हो रहा है। कब सुख की घड़ियाँ दुःख में परिवर्तित हो जायँगी, हम नहीं कह सकते।

❈ यहाँ 'रंग' प्रेम का प्रतीक है। विप्रलंभावस्था में प्रेम और गहरा हो जाता है।

† 'मूर्ति' को कला का 'कामना-विकास' कहना, उसमें कला के सौंदर्य की पूर्णता लक्षित करता है। कला की कामना यही हो सकती है कि वह अत्यधिक सुन्दर हो। यहाँ प्रिय की परम सुन्दरता व्यंजित है।

पृष्ठ ३८—(२)—प्रिय का दर्शन पहले तो पथ-प्रदर्शित करनेवाले दीपक के समान प्रतीत हुआ, पर जब उसने हृदय में प्यास भर दी तो वही 'दीप अंगारों का अंबार बन जी को जलाने लगा। (संयोग में जो वस्तुएं अनुकूल फल देती थीं—वियोग में वे ही प्रतिकूल फल देने लगी।)

पृष्ठ ३८—(३)—मेरे हृदय की पीड़ा इतनी अधिक तीव्र हो उठी है कि अब उसमें दैन्य प्रदर्शन का भाव नष्ट हो गया है; वह अब साभिमान साहस के साथ अपनी अवस्था को प्रकट करती है। *

× × ×

पृष्ठ ३९—तुमने मेरे हृदय के तीव्र प्रेम का रस जी भर पीकर मुझसे ही मुंह फेर लिया। ('मदिरा' प्रेम का प्रतीक है। मदिरा पीने के बाद आँखों में लाली छा जाती है। प्रिय ने प्रेम की मदिरा जी भर पी और जब उसके अतिरेक से वह ऊब गई तो उसने उपेक्षा का भाव धारण कर लिया। 'लाल आँख दिखलाने में' क्रोध का भाव भी व्यंजित है।) विरहावस्था में प्रेमी खीझ व्यक्त कर रहा है। वह सोचता है, कहीं प्रेम के अतिरेक से ही तो प्रिय में विरक्ति नहीं हो गई। 'अतिपरिचयात् अवज्ञा' तो नहीं है? 'मुझको ही तुमने फेरी' से क्या कवि प्रेयसी को समर्पित प्रेम-भाव के लौटा देने के भाव को तो इंगित नहीं कर रहा है ?

× × ×

पृष्ठ ४०—(१)—कवि संसार की छलना से ऊब उठे हैं। वे उससे पनाह माँगते हैं। वे अपने को सर्वथा एकाकी अनुभव करते हैं। अतः स्वभावतः अपने मन (नाविक) से पूछते हैं—मुझे इस स्थान पर जहाँ शून्यता और भयंकरता ही दीख पड़ती है—तू किन उमङ्गों में बहा लाया ? मन की ऐसी स्थिति क्या किसी ने कभी अनुभव की थी ?

× × ×

पृष्ठ ४०—(२)—कवि फिर मन ही में उधेड़-बुन कर रहे हैं—क्या मैं सांसारिकता के परे हो जाऊँ ? लेकिन वह स्थान कैसा है ? मुझे इसका भी

---

* अब प्रेमी अपने दर्द के विश्लेषण में कोई झिझक नहीं प्रदर्शित करता। जब वेदना पराकाष्ठा को पहुँच जाती है, तो वह बाहर फूटना चाहती है और ऐसे समय उसमें कोई दुराव; कोई दैन्य नहीं रहता। प्रमी अब बहुत स्पष्ट शब्दों में प्रिय की निष्ठुरता का ढिंढोरा पीटता है, क्योंकि वह अब वेदना को अधिक काल तक दबा कर नहीं रख सकता।

तो ज्ञान नहीं है—वह कौन-सी मानसिक भूमिका है, जहाँ पहुँचने पर मुझे सेहत मिलेगी ? मुझे तो अंधकार ही दीख पड़ता है। मुझे यह भय नहीं कि मैं मन की अज्ञातावस्था में जाकर अपने अस्तित्व को खो बैठूँगा या मेरे इस जीवन ही का अन्त हो जायगा। मुझे यही दर्द है कि कहीं वहाँ भी 'छल' ही न हो। इस पार का जीवन तो कपटपूर्ण छल है ही, मुझे दुःख है कि कहीं उस पार का अज्ञात लोक भी इसी पार की छाया न हो। वहाँ भी छल ही का साम्राज्य न हो।

× × ×

पृष्ठ ४१—(१)—'अब मैं जिस मानसिक स्थिति मे पहुँच चुका हूँ उससे लौटने का मार्ग मुझे नहीं सूझ रहा है। मेरा मरुस्थल सा सूखा हृदय आँसुओं के नद में डूब चुका है। 'बालू' पर ही पद-चिह्न बन सकते थे पर वह तो प्रेम के 'पानी' में डूबी हुई है। यदि मेरा मन तर्कमय (शुष्क) रहता तो मैं चिन्तन करता और मुझे अपनी स्थिति को बदलने में सहायता मिलती—पर अब तो वह भावनामय हो गया है। अतः केवल उसी भाव में 'बहने' के अतिरिक्त अब कोई मार्ग ही नहीं दीख पड़ता।

× × ×

पृष्ठ ४१—(२)—चारों ओर शून्यता फैली हुई है। मैं एकाकीपन अनुभव करता हूँ। मुझ में न तो स्वयं शक्ति रह गई है कि मैं अपना मार्ग खोज लूँ और न किसी व्यक्ति का सहारा ही मुझे प्राप्त है। मैंने तो अपने को ऐसे (भाव के) समुद्र में फेंक दिया है कि जिसका कोई किनारा ही नहीं दीख पड़ता। मुझे रह रहकर चिन्ता सताने लगती है कि मै नगण्य व्यक्ति कैसे पार लगूँगा ?

× × ×

पृष्ठ ४१—(३)—कवि अपने मन (नाविक) से ही कहते है—'मेरी यह भावना की नाव नैराश्य के समुद्र में जब तैर रही थी तब 'प्रिय' के मुख चन्द्र के दर्शन होते ही मुझे किनारा बहुत समीप दीख पडता था। (मुझमें कितनी ही घनी निराशा आच्छन्न रहती पर ज्यों ही मुझे प्रिय का मुख दीख पड़ता, मैं आशा से भर जाता—मेरी कामना की पूर्ति हो जाती।)

× × ×

पृष्ठ ४२—(१)—मेरे सामने अब शुष्कता (प्रिय के अभाव में चारों ओर नीरसता ही छाई हुई है) का सागर फैला हुआ है। अब 'प्रेम' ही इस अनियंत्रित मन की नाव को आँसू की धार में खेकर ले जा रहा है। पता नहीं कहाँ ? नाव में कूल-किनारे-पर जाने के लिये डोरी-लगर

कुछ नहीं है! (प्रिय के आगमन के पूर्व मेरा जीवन रेगिस्तान के समान था—शुष्क था—('पतझड़ था, झाड़ खड़े थे सूखे से फुलवारी में') उसके आगमन से उनमें प्रेम का रस बह उठा और वह खिल उठा। पर विरह में जीवन पुनः शुष्क हो गया, पर चूंकि प्रेम का झरना एक बार फूट पड़ा था इसलिए विरह में चारों ओर शुष्कता छा जाने पर भी वह (झरना) आँखों की राह से बहकर मन को सूखने नहीं देता।

× × ×

पृष्ठ४२—(२)—अन्तर का सागर तरल होने पर भी अपने भीतर बड़वानल के समान जलन छिपाए हुए है और वह आँखों की राह से गरल सदृश फेनिल आँसू बाहर निकाल रहा है। हृदय में जलन भरी हुई है। प्रिय ने मुझे सताकर क्या प्राप्त कर लिया? मेरे हृदय-सागर में उथल-पुथल मचाने से उसे कौनसा सुख मिल गया?) उसे किस बात की 'चाह' थी? मथने से तो बाहर विष ही बह रहा है। मेरी वेदना में जो तीव्र जलन है वह किसी 'विष' (एसिड) के समान ही है।

पृष्ठ ४२—(३)—अब तो मुझे उसासें भरते-भरते 'सुबह से शाम हो जायगी और इसी तरह रात भी बीत जायगी।'*

पृष्ठ ४३—(१)—'मैं तुम्हारी खोज में नभ-पृथ्वी दोनों की खाक छान डालूंगा। यदि मैं जान लूं कि तुम किसी पथ से जा रहे हो तो मैं उसका 'धूल-कण' बन कर प्रसन्न हो उठूंगा (चमकूंगा), सौरभ बनकर उडूंगा और तुम तक पहुँचूंगा। और यदि तुम किसी नक्षत्र में होगे तो वहाँ भी पहुँचने की चेष्टा करूंगा।'

× × ×

पृष्ठ ४३—(२)—'तुम्हारे मिलने के पूर्व मेरा जीवन शुष्क था—यंत्र के समान निर्जीव था। इसमे कुछ भी क्षमता न थी। पर जब तुमने उसमें प्रवेश किया तो उसमें प्राण भरने वाली सरसता आ गई और वह दैदीप्य हो उठा।

---

* 'छाया पथ'—संध्या का प्रतीक है। मलय समीर का बहना प्रातःकाल की ओर इंगित करता है। चांद के अन्तिम किरणें बिखराने से रात के अवसान की कल्पना है।

पृष्ठ ४३—(३)—'मेरे हृदय में उसका चन्द्रमा के समान रूप चमचमा रहा है। उसी शीतल किरण के सहारे मैं जीवित हूँ। सौंदर्य के अमृत की बलिहारी है। चकोर 'अंगारों' में ही चाँद का सौंदर्य पाकर उन्हें चुगने लगता है और इस तरह वह अंगारे चुग कर भी शीतलता लाभ करता है। ×

× × ×

पृष्ठ ४४—(१)—दीपक के भीतर जब तेल (स्नेह) होता है तभी वह जलता है और उसी समय वह पतग से मिलता है। [दीपक के जलने के बाद ही पतिंगे उस पर टूटते हैं।] पतंग भी जब जलने लगता है तो वह उस करुण क्षण में भी प्रसन्न हो उठता है [फूल के समान उसका मन खिल उठता है क्योंकि वह देखता है कि दीपक भी तो स्नेह से ही जल रहा है। ‡

※ ※ ※

पृष्ठ ४४—(२)—इस आकाश रूपी वन-समूह में जूही के समान तारे खिल रहे है। शशि ! तुम इन जूही के फूलों में श्वेत कमल के समान क्यों मिल जाते हो ?

पृष्ठ ४४—(३)—संसार में अकाल ही किसी के जीवन का अन्त नहीं हो जाना चाहिए। इसी भाव को कवि इन शब्दों में कहते हैं—कलियों के

× प्रिय का रूप वियोगावस्था में जी को जलाता ही है पर प्रेमी उसका ध्यान किए बिना नहीं रहता। उसे वह जला कर भी शीतलता ही प्रदान करता है।

‡ प्रेमी को यदि अपना उत्सर्ग करते समय यह विश्वास हो जाय कि उसका प्रिय भी उसके प्रेम में अपने प्राणों को भीतर ही भीतर घुला रहा है तो उसके प्राणोत्सर्ग का उत्साह दुगना हो जायगा। मैथिलीशरण के एक गीत की ये पंक्तियाँ हैं:—

"दोनों ओर प्रेम पलता है,
सखि पतंग भी जलता है, दीपक भी जलता है।"

बलने का सम्बल = तेल (स्निग्ध पदार्थ)

※ कवि अपने प्रिय को उलाहना देते हैं कि तुम तो असाधारण हो। अतः साधारण व्यक्तियों के बीच रहने में तुम्हारी शोभा नहीं बढ़ती। जूही के साथ कमल का संयोग कैसा ?

जीवन की इसी से सफलता नहीं होनी चाहिये कि वे अपने में रस भर कर खिल उठें और जबरदस्ती कोई उन्हें तोड़ ले जाय। ❉

पृष्ठ ४५—(१)—कवि कली से ही कहते हैं कि तुम्हारा यह क्षणिक जीवन कोमल वृन्तों पर ही बीते-तुम खिले ही रहो तो क्या हो जायगा ? तुम क्यों खिली अवस्था में चुपचाप नीचे गिर पड़ते हो ? ×

× + ×

पृष्ठ ४५—(२)—मैंने प्रिय के चरणों में अपने मन की सारी अभिलाषाओं की अञ्जलि बिखेर दी है। मेरा उससे यही आग्रह है कि वह देखे कि इन सुमनों में रस-कण है। इन्हें कीट के समान कुतरना निष्ठुरता का प्रदर्शन होगा।

❉ ❉ ❉

पृष्ठ ४५—(३)—यहां कवि का नियति-विश्वास उच्छ्वसित हो रहा है। काल बड़ा निर्मोही है। वह किसी पर सदय नहीं होता। उसके अँधियारे पट पर अज्ञात भाग्य-रेखाएँ अंकित हैं। जीवन में इतना सुख है और इतना दुःख है—यह कोई नहीं कह सकता। नियति कब अपना चक्र घुमा देगी और कब सुख को दुःख में परिणत कर देगी, कौन कह सकता है ?

पृष्ठ ४६—(१)—संसार में कभी दुःख और कभी सुख दीख पड़ता है और इन्ही उत्थान–पतन के साथ उसका अन्त होता है ; यह क्रम उसका प्रलय काल तक चलता रहता है। वह अपनी ही धुन में मस्त रहता है, वह दूसरों का हित–अहित सोचने को कभी नहीं रुकता। ★

पृष्ठ ४६—(२)—मनुष्य के जीवन में विरह और मिलन दोनों का समावेश है। उसमें दुःख–सुख दोनों का अनुभव होता है। काश ! जीवन

❉ नियति हमारे साथ हमेशा छल करती रहती है, हमारी इच्छा के विपरीत ही उसका कार्य-चक्र चलता है।

× कवि असमय ही जीवन के अन्त के प्रति नियति को मानों कोसता है।

★ संसार में सभी प्राणी अपने ही सुख–दुःख, उत्कर्ष–अपकर्ष की चिंता करते और अपना जीवन–यापन करते हैं। उन्हें अन्य व्यक्तियों की भलाई-बुराई की ओर ध्यान देने की चिन्ता नहीं होती।

में सुख दुःख एक हो जाते। मनुष्य सुख-दुःख में एक ही सा भाव धारण करता।÷

पृष्ठ ४७—(१)—कवि के जीवन में प्रिय ने आकर बेहद सुख भर दिया था पर उस असीम सुख को उसने ओझल होकर पल भर में ही चुपचाप चुरा लिया। इसीलिए विरह में प्राण विकल हो रो रहे हैं।

पृष्ठ ४७—(२) मैं रात भर प्रतीक्षा करता हूँ—जब उषा प्रभात होने की सूचना देती है तो मैं निराश हो जाता हूँ। परन्तु जब सध्या काली रात का संदेश लेकर आती है तो मैं प्रिय-मिलन की आशा में हर्ष-विकम्पित हो जाता हूँ। सोचने लगता हूँ रात में प्रिय का अभिसार होगा।

पृष्ठ ४८—(१)—मालती के कुंज में जिस प्रकार चाँदनी रात में चाँदनी की आभा भी झलक उठती हैं और लताओं का समूह होने से अँधियारी भी रहती है उसी प्रकार हमारे मन में सुख-दुःख दोनों की स्थिति रहती है। (चंद्रिका सुख और 'अंधेरी' दुःख का प्रतीक है।)

पृष्ठ ४८—(२) आकाश में सुख ही भरा हुआ है। आकाश में ईथर' की लहरे हैं। कवि कहते हैं कि असीम सुखों से ही सारा आकाश-स्थान तरंगित हो रहा है। तारे जो उसमें दिखाई देते हैं वे सुख के कारण मानो प्रसन्नता से हँस रहे हैं।

पृष्ठ ४८—(३)—ऊपर आकाश तो सुख का आगार है परन्तु नीचे पृथ्वी दुःख-भार से ही दबी जा रही है। रो-रोकर ही दुःख का सागर मानों भर रही है।

÷ ('मन के हारे हार है, मन के जीते जीत'—यदि हम अपने मन को इतना तैयार कर लें कि वह जिस घटना में दुःख दिखाई देता है उसे सुख मान ले तो फिर दुःख के अनुभव की तीव्रता बहुत ही कम हो जायगी। इसीलिए कवि कहते हैं कि जीवन में सुख-दुःख दोनों के प्रसंग आयेंगे पर यदि उनको देखने का आपका अपना दृष्टिकोण है और इनको ग्रहण करने की आप के मन की तत्परता आपकी रुचि के अनुकूल है तो आपको हर स्थिति में संतोष ही होगा। इसी प्रकार जीवन में जो एक बार मिला है वह कभी न कभी बिछुड़ेगा ही। अतः उसमें एक ही स्थिति संभव नहीं है। मन ही हमारी भावनाओं को संतुलित रख सकता है। 'जग पीड़ित रे अति सुख से, जग पीड़ित रे अति दुख से"—पंत। अतः सुख-दुःख के प्रति हमें सम-भाव धारण करना चाहिये।

पृष्ठ ४९—(१)—(इस पद्य को ' प्रसाद ' के नियतिवाद की चर्चा करते समय समझा दिया गया है। देखिये–' प्रसाद का नियतिवाद ' शीर्षक अध्याय।)

★ ★ ★

४९—(२) मेरे मन में सुख की कमी नहीं थी। उसमें इतना सुख था कि वह जल, थल और नभ में भी न समाता (यहाँ सुख की अधिकता प्रदर्शित की गई है) उसी अपार सुख को प्रिय ने अपनी मुट्ठी में रख लिया था। प्रिय में ही मेरा सुख समाहित हो चुका था। पर प्रेम का आश्वासन दे उसने मेरे साथ छल किया। अतः अब मैं सुख से वंचित हो गया हूँ।

★ ★ ★

पृष्ठ ४९—(३)—उसे मेरे सम्पर्क में ऐसा कौन सा दुःख हो रहा था, जो मेरा सुख लेकर वह भाग गया। सुप्तावस्था में उसने ओठों को प्रेम–रस (चुम्बन) से ज्यों ही प्लावित किया, मैं सिहर कर जाग गया पर वह इसी बीच ओझल हो गया। *

★ ★ ★

पृष्ठ ५०—(१)—मैंने अपने जीवन से समझौता कर लिया था। मैं जिसका दु.ख जीवन में था, उसी को सुख समझ लिया करता था। मैंने अपने मन को इस प्रकार की अनुभूति के लिए तत्पर कर लिया था। क्योंकि मैं जानता हूँ कि घन में बि· समान जीवन में मृत्यु भी अनिवार्य रूप से बसी हुई है। इसलिए अब दुःख-सुख की पर्वा क्यों करूँ? नियति की प्रत्येक देन को क्यों न सहर्ष मन पर झलूँ?

★ ★ ★

पृष्ठ ५०—(२)—प्रिय मुझे दुःखी देख कर प्रसन्न हो उठता है। इस तरह मेरी करुण भावना जब उसे प्रभावित करती है तो उसका रूप और भी खिल उठता है।*

---

* इस पद्य में भी सूफियों की हाल–अवस्था में परमात्मा के आगमन के विश्वास की अभिव्यक्ति है। 'रोम तनिकसा जागे '—शरीर सात्विक भाव से रोमांचित होने लगा।

* श्रृङ्गार रस में जब करुण भाव प्रवाहित होने लगता है तब वह विकसित होकर अधिक सरस बन जाता है। यदि श्रृङ्गार से विप्रलंभ का अंग निकल जाय तो उसमें क्या ' रस ' रह जायगा? इस भाव को भी इन पंक्तियों में श्लेष से ध्वनित किया गया है।

पृष्ठ ५०–(३)—सुख-दुःख ममत्व–मोह—से होते हैं। यदि हम 'मोह' त्याग दें तो सुख–दुःख कभी पैदा न हों। कोई 'ममता' का अर्थ अहंकार भी करते हैं। उनके मत से अहंकार ही सुख–दुःख का कारण है। हमारे मत से 'ममता' का अर्थ 'मोह' लेना अधिक उचित होगा। क्योंकि मोह से ही सुख–दुःख की स्थिति उत्पन्न होती है। यदि 'प्रसाद' का 'ममता' से अहंकार अर्थ होता तो वे आगे 'हानि उठा कर' न लिखते। 'ममता' को त्यागना ही 'हानि उठाना' हो सकता है। सुख–दुःख जो दो विभिन्न मानसिक अनुभूतियाँ हैं, तभी एक हो सकती हैं जब हम मन की ऐसी अवस्था बना लें जो सुख–दुःख दोनों को ही एक भाव से देखें। 'रूठे हुए' इसलिए कि वे परस्पर प्रतिकूल मनोभाव हैं।

× × ×

पृष्ठ ५१—(१) मेरी वेदना की घटाएँ आकाश में इतनी ऊँची चढ़ जाएँ कि उन्हें न तो सूर्य की प्रखर किरणें ही जला पायें और न उन पर चंद्र की किरणें अपना प्रकाश ही डाल उन्हें संसार के दृष्टिपथ में ला सकें। मैं अपनी वेदनाओं को अदृश्य और अप्रभावित ही रखना चाहता हूँ उन्हें मैं सांसारिक दुःख-सुख से अछूती रखना चाहता हूँ। कवि मन की समस्थिति चाहते हैं।

पृष्ठ ५१—(२)—(इस पद्य का 'प्रसाद' के नियतिवाद की चर्चा करते समय उल्लेख तथा स्पष्टीकरण हो चुका है। देखो 'प्रसाद' का 'नियतिवाद' अध्याय)

× × +

पृष्ठ ५१—(३)—कवि अपने प्रिय से कहते हैं कि जब तुम्हारा भ्रम दूर होगा और तुम पुनः मेरे अंधकारपूर्ण निराश हृदय की ओर झाँकोगे तब तुम्हें ज्ञात होगा कि वह तुम्हारी ही प्रतीक्षा में रहा है—उसमें किसी ने प्रवेश कर उजाला नहीं किया—वह तुम्हारे बिना सूना ही रहा है।

+ × ×

पृष्ठ ५२ —(१)—कवि का विश्वास है कि उनकी उसासें उनके प्रिय को अवश्य उन तक खींच लायेंगी—और वह भी उनके दुःख को देख दुःखी होकर उनके आँसुओं में अपने आँसू मिलायेगा। एक उर्दू शायर ने कहा भी है—

"वह खुद ही आ जायेगा;
दर्दे दिल बढ़ने तो दो।;

× × ×

पृष्ठ ५२—(२)—जब संध्या होती है तो मै मिलन की प्रतीक्षा करने लगता हूँ और उस प्रतीक्षा के समय मनमानी सुन्दर कल्पना भी करने लगता हूँ। पर जब रात बीत जाती है और उषा की लालिमा आकाश में हँस उठती है तो मैं निराश हो जाता हूँ और मेरी मनमानी कल्पनाओं का अन्त हो जाता है। *

× × ×

पृष्ठ ५३—(१)—चौदहों लोकों में मेरी वेदना जब प्रिय को खोजने गई तो उसे यह अनुभव हुआ कि सभी जगह दुःख ही है। जीवन-संघर्ष कष्ट से ही भरा हुआ है।

+ + +

पृष्ठ ५३—(२)—उसासों और आँसुओं में (दुःख में भी) आराम नहीं है। जब आँखें रो रोकर झप जाती है तो नीद के स्वप्न में विश्राम मिलता है पर नीद भी पूर्ण विश्राम नही देती। सपने के कारण पुनः हलचल मच जाती है। अर्थात् जागते-सोते कभी भी विश्राम जीवन में नहीं है। 'अपर विश्राम कहाँ जीवन मे?' को ही कवि इन पक्तियों में और स्पष्ट करता है। 'थक कर सोने' में विश्राम का न दीख पड़ना व्यंजित होता है।

× × ×

पृष्ठ ५४—(१)—कवि रात से आग्रह करते है कि जब हृदय में व्यथायें सो जायें (—चूंकि तुम ही उन्हें क्षण विश्राम देने का श्रेय लूटती हो इसलिए वे तुम्हारी कृतज्ञ हैं—) उनका उन्माद तुम जरा सहला देना, जिससे वे कुछ समय तक और न जाग पायें। वेदनाएँ जितने समय तक सोई रहें, अच्छा है। (सहलाने में धीरे धीरे हाथ फेरा जाता है। इस से शांति मिलती है।)

× × ×

पृष्ठ ५४—(२)—इस पद्य मे भी रात से आग्रह किया गया है कि तुम

---

* तृतीय पंक्ति में 'रक्त' शब्द साभिप्राय है। वह निराशा ऐसी है जैसे किसी ने कलेजा चाक कर दिया हो और वह रक्तमय हो उठा हो।

खूब अँधेरी होकर जग को तन्द्रा से भर दो, जिससे दुःखी मनुष्य अपनी वेदना भूल सकें। ×

× × ×

पृष्ठ ५४—(३)—इस पद्य में 'रात' हो जाने की कामना की गई है। स्वप्न रूपी 'सोनजुही' के फूल तारे बन कर आकाश में बिखर जायें—आकाश गंगा की पंक्ति भी श्वेत कमलों से भर जाय (आकाश गंगा को अंग्रेजी में milky way कहते हैं। उसमें सफेद तारों की क़तार बड़ी भली लगती है।) *

× × +

पृष्ठ ५५—(१)— इस पद्य में भी 'रात' से आग्रह किया गया है कि वह संसार में नींद का मादक रस बरसा कर दुःखी व्यक्तियों को क्षण भर अपनी वेदना भूलने का अवसर दे :—

'निशि ! तुम आकाश—मंडल की नीलिमा (नीले बिस्तर) पर आसीन हो। तुम वहीं से पृथ्वी पर कृपा-कटाक्ष के घन से निद्रा रूपी नीलकमल के 'रस' की वर्षा करो।' (पुष्प-रस में मादकता का गुण रहता है। मादकता के रस से ही बेहोशी या तंद्रा संभव है। इसलिए कवि ने निद्रा को 'विस्मृति का नील नलिन रस' कहा है।)

× × ×

पृष्ठ ५५—(२)—वर्तमान जीवन—संघर्ष का इस पद्य में उल्लेख है। यह युग इतना संघर्षमय है कि रात को भी विश्रान्ति नहीं चाहता। उसे भी दिन ही बना डालना चाहता है। इसीलिए कवि कहते है कि यह संसार जो बहुकाल से दुःखी है, रात को भी दिन के प्रकाश की कामना करता है। अतः 'रात' से प्रार्थना है कि वह अंधकार के ओस-कण बरसा कर इस पागल जगत् को सोने के लिए बाध्य कर दे, जिससे उसे अपनी व्यथा और मानसिक संघर्षों को भूलने के कुछ क्षण तो प्राप्त हो जायें।

× × ×

पृष्ठ ५५—(३)—जब दुःखी संसार सो जायगा तब उस पर कल्याण की वर्षा ही होगी। उस समय थक कर सुख की नींद सोये हुए व्यक्ति को कष्ट की चिन्ता से ज़रा फुरसत तो मिल जायगी।

× रात को स्पर्शहीन अनुभव कहा गया है।

* कवि संसार में घनी अंधकार मय रात का आह्वान करता है। प्रकाश का लेश न रहे, जिससे दुःखी मनुष्य आराम से सो सकें।

पृष्ठ ५६—कविकी कामना है कि संसार की यह निद्रा प्रलय-काल तक बनी रहे-उसकी चेतना ज ागृत ही न हो—जीवन-समुद्र में कोई हलचल ही न हो (मनुष्य जाग कर दैनिक व्यापारों में तल्लीन न हों।) कवि का विश्वास है, इस प्रलय की निद्रावस्था मे ही बिछड़े हुए फिर मिलेंगे। [कवि दुःखी मनुष्य को इतना अधिक सुलाना चाहता है कि वह प्रलय काल तक ही सोता रहे। तभी वह कामना करता है-सोने की रात के पूर्व की संध्या ही प्रलय का प्रारंभ बन जाय।

+ × ×

पृष्ठ ५७—(१)—अँधेरी रात में यद्यपि आकाश में असंख्य तारक चमकते रहते हैं फिर भी पृथ्वी पर प्रकाश क्यों नहीं फैलता? इसका उत्तर कवि की कल्पना देती है:—

तारों भरी रात ऐसी दीख पड़ती है मानों प्रकाश के बुन्द पृथ्वी पर टपका रही हो पर उन बुन्दों को घना काला अन्धकार ही चुपचाप पी जाता है। (अंधकार की सघनता से ही नक्षत्रों का धीमा प्रकाश पृथ्वी पर आलोक नहीं फैला पाता।)

× × ×

पृष्ठ ५७—(२)—जब मुझसे सुख विमुख हो गया है तब भी तुम कहते हो कि "मैं चुपचाप भी न रोऊँ?" मन की यह कितनी पराधीन अवस्था है! *

× × ×

पृष्ठ ५८—(१)—विरही अपने आँसुओं को आँखों में भर कर उन्हीं में सुखा लेता है। वह ऐसा क्यों करता है? अपने दुःख-दर्द को किसी पर प्रकट न कर स्वयं क्यों उससे भीतर ही भीतर झुलसता रहता है? उल्का भी गिरते समय एक बार चमक कर जी उठता है। अतः दुखी मनुष्य तू भी एक बार अपनी वेदना को संसार के सम्मुख खोल कर रख दे। तू जी उठेगा। (दबी वेदना शरीर के मर्मस्थल को जला डालती है।) ❋

पृष्ठ ५८—(२)—हर्ष और अवसाद दोनों को एक बना कर तू नई सृष्टि का निर्माण कर।

---

* कवि सुख की कामना करता है और वह नहीं मिलता इसलिये वह अपमानित कर व्यंग हँसी हँसता है।

❋ आँखों में आँसू पीना-लक्षण-लक्षणा- दुःख को अपने तक रखने का भाव है

पृष्ठ ५८—(३)—इस पद्य में कवि दुःखी मन से कहते हैं कि तू अपनी ही समस्याओं पर आँसू बहाना छोड़ कर ससार में फैली हुई व्यथा को अपना ले। ससार की समस्याओं को अपनी समस्या बना कर उनके दुःख को अपना दुःख बना ले। तब भी ससार में तू अपनी ऐसी कीर्ति-कथाओं को छोड़ जायगा जिसे सुन कर लोक-रंजन होगा। (यदि तू अपनी ही व्यथाओं में दुःखित होता रहेगा तो तुझे जनता क्यों अपना समझेगी और तेरी 'चर्चा' करेगी? परन्तु यदि तू लोक-दुःख से दुःखी होगा और उसे दूर करने की चेष्टा करेगा तो तेरा दायरा बढ़ जायगा, तू सभी की दिल-चस्पी का पात्र बन जायगा।)

× × +

पृष्ठ ५९—(१, २) और पृष्ठ ६० का (१)—

कवि अपनी वेदना को संबोधित कर कहते हैं कि तुम सदा जलती रहती हो। जब रात में चंद्रमा घटों जाग कर प्रायः सो जाता है और सूर्य भी दिन भर तप कर सध्या में डूब जाता है; जब आकाश-गगा की धारा में तारे डूब जाते हैं—याने जब तारे भी आकाश में लोप हो जाते हैं और घनों के बीच बिजली भी छिपी रहती है—जब रात में घना अंधकार छाया रहता है और दिन भी बादलों के घटाटोप से अंधकारमय हो जाता है—बिजली की चमक भी उसे क्षणभर भंग करने को नहीं दिखती—तब भी तुम हे मेरी वेदना की ज्वाले! अकेली ही जलती रहती हो, तुम विश्राम नहीं लेती! तुम विश्व-मंदिर में मणि-दीप के समान जल रही हो—'वेदना' यदि मनुष्यो के हृदय में न हो तो ससार में जीवन अंधकारमय हो जाय। किरणों की ज्वाला बहने में जलने का भाव है।

× × ×

पृष्ठ ६०—(२ और ३) तथा पृष्ठ ६१ (१)—इन पद्यों में भी अपनी वेदना-ज्वाला के सदा जागृत रहने का वर्णन किया गया है।

आकाश के नीचे ऊँची लहरों का पर्वत सर पर उठाए समुद्र अपने में बड़वानल को छिपाये हुए है और संसार को वेदना पहुँचाने वाले ज्वालामुखी की आग पर्वत के भीतर ही अपनी लपटों को फैलाए अंध-कार में पड़ी रहती है ('तम से जीवन उलझाये' में अंधकारमें जीवन बितानेका भाव है) क्योंकि उसके भाग्य में यही लिखा है (नियतिका यही संकेत है) परन्तु मेरी वेदना की ज्वाला को विश्राम नहीं है—वह सतत अकेली ही जलती रहती है।

पृष्ठ ६१—(२)— (प्रेम की) वेदना से कवि कहते है कि तुम इस दुःखी संसार के कष्टो को होली के समान जला कर जल रही हो। तुम सदा ही सौभाग्यवती बनी रहती हो (प्रेम का रग 'अरुण' माना जाता है। 'मानवता' के साथ तुम सदा रहती हो। बिना प्रेम के मानवता जीवित नही रह सकती)—मानवता के भाल को ऊँचा उठानेवाली हो, उसका गौरव बढ़ानवाली हो—उसके सिरका सिन्दूर हो। (यदि मनुष्य के हृदय में प्रम की ज्वाला सो जाय तो उसमें कोमल भावनाएँ कहाँ से झाँक सकेंगी? वह तब तो मानवता के शिखर से नीचे ढुलक जायगा। प्रेम की आग भौतिक अशिव मनोविकारो के अनावश्यक 'कूड़े-कर्कट' को जला डालती है।) इसी भाव को अगले पद्य में और भी स्पष्ट किया गया है।

× × ×

पृष्ठ ६१—(३) जीवन रूपी सागर में तुम बड़वाग्नि के समान छिपी छिपी जलती रहती हो। हे वेदने! तुम आगी के समान मन के विकारों को जलाती रहो।

× × ×

पृष्ठ ६२—(१)—प्रेम से जगत के संघर्ष (द्वन्द्व) मिट जाते हैं। वह दो विरोधी भावो को मिला कर एक बना देता है। कवि अपनी प्रेम-ज्वाला से कहते है कि तुम अपनी लपटों से सारे ससार को आच्छादित कर दो, सारे संसार को प्रेममय बना दो। (आग की लपटों का रंग पीलापन लिए रहता है इसलिए 'कसर रज' से उनकी समता की गई है। 'परिणय' से दो व्यक्ति नजदीक आकर एक बनते है और यह कार्य "जयमाला" से हो जाता है। प्रेम संसार की दो भिन्न भावनाओ को एक बनाने में 'जयमाला' का ही कार्य करता है। इसलिये उसे कवि ने सुरभिमयी जयमाला कहा है। सुरभि से मन मस्त बनता है।

× × ×

पृष्ठ ६२—(२)—जब मेरे हृदय में प्रेम की ज्वाला जलती रहती है तो सारा दुःखी संसार मेरी सहानुभूति—करुणा—का पात्र बन जाता है—मैं उसे अपने निकट अनुभव करने लगता हूँ। (प्रेम की भावना को व्यष्टि तक ही न रख जब हम समष्टि में बिखर देते हैं तो हम ससार के सभ चैतन्य प्राणियों के दुःख से दयार्द्र हो जाते हैं।)

पृष्ठ ६२—(३)—जब हम किसी दुखी के प्रति प्रेम या सहानुभूति की भावना रखते है तो वह अपने हृदय पर कुछ भी आवरण नही रहने देता—अपनी व्यथा को खोल कर रख देता है। दुखी अपना दुखड़ा सुना कर निराश नहीं हो पाता क्योंकि हमारी सहृदयता उसके साथ होकर उसका दुःख-भार हलका करती है। *

× × ×

पृष्ठ ६३—कवि अपने हृदय की ज्वाला से कहते है कि तू ससार में व्याप्त हो जा। संसार जो निर्मम बन गया है—प्रेम की भावना को लोप करता जा रहा है, उसमें तू अपनी जलन भर। (संसार यदि प्रेममय बन सके तो वह सचमुच आकर्षण की वस्तु हो जाय।) यदि तू यह कर सकी तो विश्व क लिए कल्याणप्रद सिद्ध होगी। ('ज्वाला' को शीतल इसलिए कहा है कि उसका प्रभाव शीतलता ही प्रदान करता है। उसके पूर्व भी कवि ने कहा है—

"शीतल ज्वाला जलती है ईंधन होता दृग-जल का।"

× × ×

पृष्ठ ६४—(१ और २)—कवि प्रेम का इन पद्यों में आह्वान करते हैं—जिस प्रेम के सम्मुख कष्टमय जीवन भी सुखमय प्रतीत होता है, मृत्यु में भी अमरता का भान होता है, वही प्रेम! मेरे सरस हृदय में हँसते हुए जाग उठो! जिससे इस जीवन में फिर से मधुर भावनाओं का संगीत गूंज उठ।

पृष्ठ ६५—(१)—'मुस्कुराहट में बसे हुए प्रेम! तुम मेरी उसासों में जाग उठो, मैं पुनः प्रम के निःश्वास छोड़ने लगूं'। (कवि की प्रमल प्रकृति की इनमें कितनी स्पष्ट अभिव्यक्ति है। कवि प्रेममय जीवन ही बिताना चाहते है, वे उसी के दर्द मे उसासे भर कर सुखी होना चाहते हैं।) प्रम! तुम कभी हंसाते और कभी रुलाते हो (आँसू और मुसकानों की आँखमिचौनी का नाम ही प्रेम है।)

× × ×

पृष्ठ ६५—(२ और ३)—'यह संसार तो सपना है, उसमें यदि सच्चा जीवन कही है तो प्रेम के स्पन्दन में ही है। इसीलिए कवि कहते हैं कि मेरे सुन्दरतम भाव! (प्रम) तुम कल्याण से भरे हुए हो—मेरे हृदय में जाग उठो।'

---

* 'धुंधला छाया मे' जब तक हम किसी के प्रति प्रम—सहानुभूति नहीं व्यक्त करते, वह धुंधली छाया के समान अपने को छिपाये रहता है।

इच्छाओं से भरे हुए मानस-सरोवर में तुम कमल के समान खिल उठा और मधुपों की मीठी गुंजार के समान मुखर बन जाओ !

× × ×

पृष्ठ ६६—(१)—नीले आकाश को हम 'आशा' से ही व्याप्त देखते हैं, पर उसमें हमें वास्तव में कुछ दिखलाई नहीं देता—'शून्यता' ही उसमें छाई हुई जान पड़ती है। यदि करुणा की—एक दूसरे के प्रति समवेदना की—भावना नीचे पृथ्वी पर फैल जाय तो यह संसार सोने का बन जाय। (परस्पर प्रेम-भाव जागृत होने पर ही समवेदना पैदा होती है।)

× × ×

पृष्ठ ६६—(२)—प्रेम जब व्यक्तियों में जागृत होता है तो वे पुलक से भर जाते हैं और इस तरह उनमें मधुर संसार की सृष्टि हो जाती है। इसीलिए कवि उसे 'मधु' संसृति की पुलकावलि से सम्बोधित करते हैं। वे कहते हैं, प्रेम ! तुम खूब विकसित होकर पनप उठो, जिससे कोमल हृदयों में रस संचरित हो सके।

× × ×

पृष्ठ ६६—(३)—कवि यहाँ परम प्रेममय अदृष्ट से कहने लगता है कि विश्व फिर आकाश रूपी खाली प्याली लेकर तुमसे प्रेम-रस की याचना करे, जिससे उसके दुःखी हृदय में फिर से प्रसन्नता लौट आये—मस्ती आ जाये।

पृष्ठ ६७—(१)—इस पद्य में कवि का विश्वास है कि सुख-दुःख के संघर्ष के पश्चात् नवजीवन प्राप्त होता है और तभी संसार हर्ष के आँसू बरसाता है।

× × *

पृष्ठ—६७(२)—यहाँ कवि अपने अलौकिक 'प्रिय' को प्रकृति के विभिन्न रूपों में देखने की साधना करते है। वे पूर्व की लाली में उसी का सुन्दर प्रतिबिम्ब देखते है, उषा में भी उसी की अलसाई आँखें उन्हें दीख पड़ती हैं।

"लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।"—कबीर

* * *

पृष्ठ ६७—(३)—कवि कहते है कि यदि उषःकाल में अम्बर-पट पर कुछ ऐसी भी आकृति खिच जाय जो 'प्रिय' से मिलती-जुलती हो तो उसकी एक झलक मेरे हृदय में कितनी अधिक मधुवर्षिणी होगी ! उसके दर्शन से मेरे हृदय की उलझनें ही दूर हो जायेंगी।

पृष्ठ ६८—(१, २, ३)—कवि अपने 'प्रेम-प्रतीक' की कल्पना करते हैं :—

जिस मुख पर नारी की स्वाभाविक सुन्दरता हँस रही हो और शिशु का पावित्र्य छलक रहा हो और गगन के रंग-सा नील वस्त्र का अवगुण्ठन हो, उसे मेरी आँखें सँजो कर अपने में रख सकती हैं और उससे मेरे प्रेम-विह्वल हृदय में उल्लास का स्पन्दन बढ़ सकता है। ('नील वस्त्र' का परिधान 'प्रिय' में विशेष आकर्षण भर देता है। इसी से जयदेव, विद्यापति आदि मधुर भाव के कवियों की 'राधा' नील वस्त्र धारण कर, 'अमृत-रस' की अजस्र वर्षा करती हैं। 'नील-रंग' प्रेम की दृढ़ता का प्रतीक है; क्योंकि वह आसानी से नहीं छूटता।)

× × ×

पृष्ठ ६९—(१)—कवि की कामना है कि यदि कहीं ऐसी प्रेम-प्रतिमा मेरे दृष्टि-पथ में आ जाये, तो मेरी आँखें उसे अपने जीवन की समस्त कल्पनाओं की पवित्र साधों के साथ देखती रहें। (मैं अपने 'मनभावन' को सदा आँखों में बसाये रखूँ।)

× × ×

पृष्ठ ६९—(२)—यदि मुझे वेदना में ही मिठास अनुभव होने लगे और मैं गई हुई तन्मयता फिर पा सकूं तो मैं अपने को सहृदय बना लूँ।

× × ×

पृष्ठ ६९—(३)—कवि फिर प्रिय को सम्बोधित करते जान पड़ते हैं। उसे वह कोई नाम नहीं देना चाहते, वह सुन्दर, कठोर और कोमल है। वे आजीवन उसके साथ रहना चाहते हैं।

× × ×

पृष्ठ ७०—(१)—वे कहते हैं, न जाने कितनी तारों भरी रातें, कितने दिन, कितने प्रहर (— ये सब निठुर काल की शृंखला ही हैं) बेखबरी में बीत गये। पता भी नहीं चला, कब समय चला गया।

× × ×

पृष्ठ ७०—(२)—मन में आवेशपूर्ण उठनेवाली तीव्र वेदना व्यर्थ नहीं जायगी; वह उस 'अनन्त' तक अवश्य पहुँचेगी और 'उसको' भी 'हिला' देगी। कवि का विश्वास है, उसके हृदय की वेदना 'उस' प्रिय को भी व्यथित बनाये बिना नहीं रहेगी।

पृष्ठ ७१—(१)—'प्रिय' को देख कर प्रेमी की आँखों के कोने भीग उठते हैं। 'प्रिय' के दर्शन की प्यासी आँखें दर्शन के पश्चात् शीतलता अनुभव करती है। आँखों में चूँकि प्रिय की अनुकम्पा की माँग का भाव है, इसीलिए 'दीनता' भी है। 'दोने' आँखों के लिए प्रयुक्त है! दोनें में याचना की जाती है।

पृष्ठ ७१—(२)—'उसके' मधुर प्रेम मे आँसू (फेनिल उच्छ्वास हृदय के) आँखों में भर आते हैं। वे 'सुकुमार आँसू' आँखों में आकर पलकों की छाया मे ही सदा सोते है।

× × ×

पृष्ठ ७१—(३)—जीवन के सुख-दुःख दो किनारे हैं। वे आँसू की वर्षा से सिंचते रहते हैं और इसी से जीवन क़ायम रहता है। तभी कवि कामना करते हैं कि जीवन की नदी में आँसू का जल सदा भरा रहे। (सुख-दुःख दोनों के अतिरेक में आँसू बह कर जीवन मे सरसता बनाए रखते है।) दोनों ही कूल 'हरा' हों में 'हरा' के स्थान 'हरे' व्याकरणसम्मत है पर प्रसाद और व्याकरण?

✠ ✠ ✠

पृष्ठ ७२—(१ और २) जिस प्रकार नदी-तट पर कहीं भी खड़े होकर देखने पर 'प्रवाह' में 'चन्द्र का प्रकाश' हर स्थल पर दिखाई देता है; उसी प्रकार जब वेदना जागृत होती है तो आँसू बहते है और मन का सारा कलुष धो देते है। (चन्द्र की किरणें जिस तरह नदी के प्रवाह मे हर जगह अपनी ही आभा छिटका देती है—सब जगह धवलता ही छाई दिखलाई पड़ती है, उसी प्रकार जब वेदना जाग उठती है और आँसू बहने लगते है तो हमारी भावनाएँ पूत हो जाती हैं–स्वच्छ हो जाती हैं।)

✠ ✠ ✠

पृष्ठ ७२—(३)—कवि की कामना है कि पलकों की सीपी में समुद्र लहराने लगे; (आँसू से वे भर जायें) और यदि किसी के दुःख पर करुणा जागृत होने से उनमें आँसू आये हों तो मन में कितना उल्लास छा जायगा, इसका वर्णन नहीं हो सकता।

✠ ✠ ✠

पृष्ठ ७३—(१)—'जब मेरे जीवन-सागर में निराशा का घना अंधकार लहराने लगे तब वेदने! समुद्र के प्रकाश-स्तम्भ (Light house) के समान तुम धीमी-धीमी जल कर-झिलमिला कर—मेरा पथ-प्रदर्शन करना।'

पृष्ठ ७३—(२)—'मन में जितनी वेदनाएँ छुपी हों वे बाहर फूल के समान खिलने लगें और धीमी-धीमी हलचल मचाने लगें।

× × ×

पृष्ठ ७३—(३)—कवि की कामना है कि जीवन मे वेदना व्याप्त हो जाय। जिस तरह अमर बेल पेड़ मे घनी छा जाती है उसी तरह वेदना जीवन को आच्छादित कर ले। यह शरीर (धमनी के इस बंधन) रिक्त न रहे-प्रेम की-वेदना को अपने में भरे रहे।

÷ ÷ ÷

पृष्ठ ७४—(१)—इस पद्य में वेदना की जलन को संबोधित किया गया है– तुम सदा से जीवन के साथ लगी हुई हो; दुनिया के दुःख मे तुम्ही साथ रहती हो। अतः जब संसार सुख में डूब कर आलस्य में ऊँघने लगे तो तुम जाग कर सुखी आदमी को ज़रा दुःखी बना कर उसमें नया जीवन भर देना। (जब तक मनुष्य के हृदय में किसी बात की वेदना नहीं उठती, वह अपनी हर स्थिति से संतुष्ट रहता है। 'वेदना' ही मनुष्य को उत्कर्ष-पथ पर ले जाती है।)

✠ ✠ ✠

पृष्ठ ७४—(२)—प्रेम-वेदना की ज्वाला से संसार की सारी कालिमा जल जाती है और पाप नामक कोई वस्तु नहीं रह जाती। चारों ओर पवित्रता चमकने लगती है।

✠ ✠ ✠

पृष्ठ ७५—(१)–जब संसार सुख-नींद में सो रहा है तब तुम कौन मेरे मन में जाग उठी हो? मै इस समय सब कुछ भूला हुआ हूँ।

✠ ✠ ✠

पृष्ठ ७५—(२)—कवि को भान होता है कि सदा जीवन के साथ रहने-वाली वेदना ही, जो आँसुओं के साथ रहती है, जाग उठी है।

✠ ✠ ✠

पृष्ठ ७६—(१)—जब मै प्राकृतिक सौंदर्य में (कमल की कोमल पत्तियों के बीच रम कर) तुम्हें (वेदना को संबोधन करते हैं) भूल जाता हूँ तब तुम्हीं सहसा जाग कर (कूक कर) हृदय में हूक पैदा कर छा जाती हो।

✠ ✠ ✠

पृष्ठ ७६— (२)—कवि अपनी वेदना से कहते हैं कि तुमने आकाश में किस चीज के दर्शन किये हैं? रात के निर्जन में तुम कहाँ कहाँ घूम आई हो? जो कुछ तुमने देखा हो उसे कहने में संकोच मत करो।

(कवि रात की निर्जनता को 'मृदु' कहते हैं, उसमें उन्हें सदा कोमलता के दर्शन होते हैं।)

पृष्ठ ७६—(३)—तुमने सुन्दर मतवाली तारों भरी रात में सुखी-जन (सुख तृप्तहृदय) को आराम से विश्राम लेते देखा होगा।(उनके हृदय में कोई उथल पुथल न मचती होगा।)

पृष्ठ ७७—(१)—तुमने रात में ओस की बूंदें देखी होंगी। वे कुमुदों के रुदन के आँसू हैं। तुमने चंद्र की किरणों द्वारा फूलों में मोती के कण के समान मकरंद की चमक भी देखी होगी। (तुमने कहीं रुदन, कहीं हँसी की क्रीड़ा देखा होगी।)

पृष्ठ ७७—(२)—तुमने शशि को छूने के लिए लालायित पृथ्वी के समुद्र की नन्हें लहरों का उठना देखा होगा और इस चेष्टा में उनका (लहरों का) गरजना और गिरना भी देखा होगा। यहाँ कवि ससार में लोगों की अनधिकार चेष्टा के परिणामस्वरूप उत्पन्न विकलता की ओर भी इशारा करते हैं।

पृष्ठ ७७—(३)—और पृष्ठ ७८ –(१)—तुमने वे पर्वत-मालायें भी देखी होंगी, जो युगों से चुपचाप अभिशापस्वरूप प्रखर सूर्य-ताप में जलती रहती है। उन पर कभी कोई हरियाली नहीं उगती और व्यक्ति भी नहीं पहुँचते। (कवि संसार के ऐसे भू-भाग की ओर संकेत करते हैं जो जड-बुद्धि-आदिमवासियों से बसे हुए हैं। ऐसे व्यक्तियों में सभ्यता का कोई आकर्षण नहीं है। वे सभ्य संसार से दूर तिरस्कृत जीवन व्यतीत करते रहते है।)

पृष्ठ ७८—(२)—तुमने संसार में स्वार्थ-लीला भी देखी होगी। भ्रमर कलियों का मधु पीने के पूर्व मधुर स्वर में गाता है। बेचारी कलियाँ उत्सुकता से उसका गाना सुनती हैं। पर रस–पान के बाद कली को एकाकी छोड़ कर वह भाग जाता है (ध्वनि यह है कि संसार में स्वार्थ सधने के पूर्व कपटी मधुर बाते करते हैं और फिर मुँह फेर लेते हैं।)

पृष्ठ ७८—(३)—फिर तुमने उन असहाय व्यक्तियों को देखा होगा, जो सांसारिक संघर्ष से निराश होकर रो-रोकर जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जिन्हें न शारीरिक और न मानसिक भोजन ही मिल पाता है। उनकी सब कुछ लुटी हुई दशा तुमने देखी होगी, (शोषितों के सर्वनाश की कितनी सजीव तस्वीर है !)

* * *

पृष्ठ ७९—(१)—इस पद्य में कवि यह ध्वनित करते है कि संसार में सहृदयता का रस सूख गया है। सूखी नदी का हिस्सा किनारों के समान बन गया है, अर्थात् उनमें पानी नहीं रह गया है।

* * *

पृष्ठ ७९—(२)—असहाय दीन व्यक्ति के, पर्याप्त साधनों के अभाव में, जीवनान्त का यह चित्र है। तुमने देखा होगा, छोटा-सा दिया एकाकी कुटिया में रात भर जल कर सबेरे बुझ गया है। संसार में न जाने कितने व्यक्ति एकान्त में लघु-जीवन बिता कर मर जाते है।

× × ×

पृष्ठ ७९—(३)—अन्त में कवि अपनी करुण भावना से कहते हैं कि संसार में सभी के प्रति—जिन्हें तुम्हारी आवश्यकता हो—सदय हो जाओ।

——*——

परिशिष्ट (ख)

जयशंकर प्रसाद

(जीवन-झलक)

सन् उन्नीस सौ अट्ठाइस; दिसम्बर का महीना, सुबह का समय; बर्फीली हवा बह रही थी, काटती सी; नगवा (हिन्दू विश्व-विद्यालय) की सड़क पर इक्के की तलाश में हम खड़े थे। "खटर-खटर" वह आ रहा था; आ गया। मटमैले रंग की चादर में काँपते हुए इक्केवान ने पूछा—

"कहाँ चली बाबू ?"

"शहर।"

"गुधौलिया ? चौक ? लंका ? कहाँ ?"

"सराय गोवर्धन।"

"आवा, बैठा।"

* * *

हम अपने एक मित्र के यहाँ सरायगोवर्धन पहुँचे। वे आँखें मल कर खड़े ही थे।

थोड़ी ही देर में उन्होंने कहा—"देखते हो, वे कौन हैं ?"

मैंने देखा—ठिगना गठा हुआ शरीर, गोल मुख, "बारहवर्णी" स्वर्ण-भार से दैदीप्यमान। कहा—"मैंने इन्हें 'माधुरी' में देखा है। ये जयशङ्कर प्रसाद हैं।"

"चलोगे मिलने ?"—मित्र ने पूछा।

"तुम तक आते समय मन में तुम ही न थे, ये भी थे।"—मुस्कुराकर मैंने कहा।

हम सब उनके स्थान पर गये। परिचय-शिष्टाचार के पश्चात् हम उनके पास बैठ गये। उस समय 'आँसू' का प्रकाशन हो चुका था, उसकी मादकता से नवयुवकों का हृदय झूम-झूम उठता था। कविता में वह 'छायावाद' का युग कहा जाता था। छायावाद शब्द पर खूब चख-चख मची हुई थी। स्वर्गीय आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अनन्त से टूट पड़ने वाले इस 'वाद' की रचनाओं की 'सुकवि किङ्कर' के वेष में बड़ी कड़ी आलोचना की थी। स्व० आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की भी भौहें तन रही थीं। उनकी आलोचनाओं में ऐसी कविताओं के प्रति यह झुँझलाहट भरी आवाज सुन पड़ती थी—

'लोगन कवित्त कीबो खेलि करि जान्यौ है !'

नयी प्रवृत्ति के समर्थकों में भी दो मत थे। एक इन कृतियों में आध्यात्मवाद—आत्मा-परमात्मा का 'विरह-पीड़न' और दूसरा लौकिकता याने शुद्ध 'प्रेम की पीर' ही देखता था। उस समय भी मुझे दूसरा मत ही अधिक साधु प्रतीत होता था। काशी के 'आज' में छायावाद-रहस्यवाद पर जो विवाद छिड़ा था उसमें भाग लेते हुए मैंने 'प्रसाद' की रचनाओं मे प्रेमवाद ही का प्रतिपादन किया था। 'आँसू' के सम्बन्ध में भी यही धारणा प्रकट की थी। जो व्यक्ति रहस्यवादी के गौरवपूर्ण नाम से स्मरण किया जाता है, उसे मै लौकिक भावनाओं का स्रष्टा कहने का दुःसाहस कर चुका हूँ। अतः वह मुझसे किस तरह मुक्त हृदय से मिल सकेगा ?...मै सोच रहा था। इतने ही में मैंने सुना—" 'आँसू' सुनोगे ?"—मेरे मित्र बोल रहे थे।

"भला ऐसा अवसर और कब मिलेगा ?"—मैंने मित्र का समर्थन किया।

'प्रसाद' जरा 'हाँ-ना' के बाद ही राजी हो गए। सुखासन में बैठे-बैठे वे—

" इस करुणा कलित हृदय में, क्यों विकल रागिनी बजती ?
क्यों हाहाकार स्वरों में, वेदना असीम गरजती ?"—

गा उठे; गाते ही गये, 'आँसू' समाप्त होने तक। कितनी तन्मयता—भाव-मुग्धता उनके वदन पर अंकित थी ! उनकी वाणी में मिठास थी—छिपा-सा दर्द भी फूटने की चेष्टा करता था। बिदा के समय अपनी दो-तीन पुस्तकें भी उन्होंने भेंट कीं। दूरी लेकर गये; निकटता पाकर लौटा।

'प्रसाद' जी का मानसिक धरातल सचमुच बहुत ऊँचा है। उनका हृदय रस का खजाना है। मेरी धारणा थी, 'आज' में उनके सम्बन्ध में जो दो चार अप्रिय वाक्य मेरे द्वारा लिखे गए थे। उनका उनके मन पर असर होगा।"—मैं कह गया।

मेरे मित्र बोले—"नहीं जी, तुमने तो कुछ भी नहीं लिखा। वे कडवी से कड़वी आलोचनाएँ पी जाते है।"

"शंकर, जिस तरह काल कूढ ?"—मैंने कहा।

"और क्या ? तभी तो उन्हें कहते है 'जयशङ्कर' "—मित्र बोले और सब हँस पड़े।

× × ×

सन् उन्नीस सौ अट्ठाइस के बाद सन् उन्नीस सौ अड़तीस में फिर काशी गया। उस समय गोवर्धन की 'सराय' सूनी थी, 'शंकर' अन्तर्धान हो गए थे। उनका 'प्रसाद' बंट चुका था—केवल उनकी जयध्वनि सुन पडती थी। आज भी वह सुनाई दे रही है, 'कल' भी देगी।

जिज्ञासा थी—काश 'प्रसाद' के जीवन की झाँकी देखने को मिलती ! जानता, कवि ने अपने को अपनी कृतियों में किस तरह छिपाने का कौशल किया है। कवि के जीवन की खोज दो प्रकार से की जाती है—एक कवि की कृतियों से; जब वह अपने सम्बन्ध में उनमें कुछ लिखता है। दूसरे; कवि के सम्बन्ध में प्रचलित किंवदन्तियों, उसके परिचितों द्वारा लिखित संस्मरणों आदि से। पहले प्रकार से कवि के जीवन का जो ज्ञान उपलब्ध किया जाता है उसे भीतरी साक्ष्य और दूसरे प्रकार से प्राप्त ज्ञान को बाहरी साक्ष्य कहते हैं। 'प्रसाद' जी ने अपने जीवन के विषय में स्वयं बहुत कम कहा है। काशी के 'हंस' के आत्मकथांक में हिन्दी के बहुत से रथी-महारथियों के आत्म-चरित्र छपे है। उसमें प्रेमचंद जी के बड़े आग्रह पर 'प्रसाद' जी ने अपना परिचय निम्न पंक्तियों में दिया था :—

"मधुप गुन-गुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझाकर गिर रही पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी।
इस गम्भीर अनन्त-नीलिमा में असंख्य मानव इतिहास—
यह लो, करते ही रहते हैं, अपना व्यंग्य मलिन उपहास।

तब भी कहते हो—कह डालूँ दुर्बलता अपनी-बीती।
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे--यह गागर रीती।
किंतु कहीं ऐसा न हो कि तुम ही खाली करने वाले—
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरने वाले।
यह विडम्बना, अरी सरलते! तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं।
भूलें अपनी, या प्रवञ्चना औरों की दिखलाऊँ मैं।
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया।
आलिङ्गन में आते आते मुसक्याकर जो भाग गया।
जिसके अरुण-कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।
अनुरागिनी ऊषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में।
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की।
सीवन को उधेड़कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की?
छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथाएँ आज कहूँ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ?
सुनकर क्या तुम भला करोगे—मेरी भोली आत्म-कथा?
अभी समय भी नहीं—थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।"

उक्त पंक्तियों में हमें कवि ने अपने सांसारिक जीवन की घटनाओं का विवरण नहीं दिया। उन्होंने सांकेतिक भाषा में अपनी आशा और निराशाओं का एक करुण चित्र अवश्य प्रस्तुत किया है। जिससे हम निम्न अनुमान निकाल सकते हैं—

(१) 'प्रसाद' जी ने किसी से प्रेम किया था।

(२) उसकी रूप-माधुरी ने उन्हें आत्म-विभोर बना दिया था।

(३) किसी कारणवश वह उन्हें प्राप्य न हो सका।

("आलिङ्गन में आते-आते मुसक्याकर वह भाग गया।") अतः उन्हें उसका अभाव विह्वल बनाता रहा।

(४) प्रिय की सजल स्मृति उन्हें आजीवन बनी रही और उन्हें काव्य की सरस प्रेरणा प्रदान करती रही।

बाह्यसाक्ष्य में हमें उनके स्नेही श्री विनोदशंकर व्यास के संस्मरण प्राप्त होते हैं। उन्होंने लिखा है—" 'प्रसाद' जी की अल्हड़ जवानी में भी एक प्रेम घटना घटी थी। यह मुझे बाद में पता लगा। १३ फरवरी १९२६ ई० को मैंने उनसे पूछा—'आपकी रचनाओं में प्रेम का एक उज्ज्वल हिस्सा

छिपा हुआ है, लेकिन मुझे आपने इतने दिनों में भी यह नहीं बतलाया कि आपकी वह अज्ञात प्रेयसी कौन थी ?' उन्होंने जो कुछ उत्तर दिया उसके पश्चात् फिर इस सम्बन्ध में मैंने उनसे कुछ नहीं पूछा।" व्यासजी की इन पंक्तियों से भी हमारे उक्त निष्कर्षों का समर्थन होता है। 'प्रसाद' के जीवन का यह अंग जानना इसलिए आवश्यक है कि उनकी कृतियों में वह स्पन्दन का काम कर रहा है।

उनके चरित्र पर प्रकाश डालते हुए विनोदशंकरजी लिखते हैं— 'प्रसाद' का सामाजिक जीवन बहुत ही स्पष्ट था। मैंने उन्हें सदैव सात्विक पाया। पान को छोड़ कर उन्हें और कोई व्यसन नहीं था। वह भाँग तक नहीं पीते थे—मांस-मदिरा से हार्दिक घृणा सी थी।"

श्रीलक्ष्मीशंकर जी ने प्रसाद ' की एक घटना का उल्लेख 'नई धारा' (पटना) में किया है—

"प्रसाद की ख्याति दूर दूर तक फैल गई थी। एक समय हिन्दू विश्वविद्यालय में एक हिंदी प्रेमी पाश्चात्य विद्वान आये। काशी आकर उन्होंने 'प्रसाद' के दर्शन की भी उत्कट अभिलाषा व्यक्त की। विश्वविद्यालय के छात्र के साथ वे प्रसादजी की नारियल बाजार वाली सुर्ती की दुकान पर आये। दुकान पर आकर उस अंग्रेज साहित्य प्रेमी ने 'प्रसाद' जी के दर्शन की बात कही। उस समय सात नहीं बजे थे। बताया गया कि थोड़ी देर बाद ही प्रसाद जी आयेंगे। 'प्रसाद' जी का नित्य का नियम था कि वे ७ बजे दुकान पर आते और प्रायः एक डेढ़ घंटे तक सामनेवाली दुकान के चबूतरे पर बैठते। अंग्रेज महोदय को कुर्सी पर बैठाया गया। काशी का सत्कार-पान—उनके सम्मुख पेश किया गया। पर वे पान न खाते थे। प्रतीक्षा के क्षण बीते। सात बजे और उधर 'प्रसाद' जी आये। अंग्रेज महोदय सामने वाले चबूतरे पर गये। 'प्रसाद' पर वे इतने विमुग्ध हुए कि उनके दर्शन कर गद्गद् हो उठे। बातचीत हुई। प्रसादजी ने उन्हें अपने हाथ से पान दिया। सब के आश्चर्य की बात यह रही कि उन्होने 'प्रसाद' के पान का प्रसाद ग्रहण कर लिया!" अंग्रेज भी मान के पान का महत्व समझ गया था!

विनोद शंकरजी लिखते है— चौदह वर्ष तक प्रायः प्रतिदिन साथ रहते हुए भी मैंने उनमें कोई दुर्गुण नहीं देखा।... 'प्रसाद' जी का व्यायाम की ओर बचपन ही से अभ्यास था। वह एक हजार बैठक और पाँचसौ दण्ड अपने जमाने में प्रतिदिन करते थे। फल, दूध और घी के अतिरिक्त आधा सेर बादाम प्रतिदिन

खाते थे। ज[illegible] में ढाका के मलमल का कुर्ता और 'शान्तिपुरी' धोती पहनते थे लेकिन बाद में खद्दर का भी उपयोग करते रहे। जाड़े में सुंघनी रंग के पट्टू का कुर्ता अथवा सकरपारे की सीयन का रुईदार ओवरकोट पहनते थे। आँखों पर चश्मा और हाथ में डंडा; प्रसादजी का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था।"

प्रसाद जी ने अपने जीवन में पुरस्कार रूप में एक पैसा भी किसी पत्र-पत्रिका से नहीं लिया। निस्वार्थ भाव से साहित्य-सेवा करते रहे। हिन्दुस्तानी एकेडमी से ५००) और नागरी प्रचारिणी सभा से २००) पुरस्कार उन्हें मिला था। यह ७००) भी उन्होने नागरी प्रचारिणी सभा को अपने भाई के स्मारक स्वरूप दान दे दिया।......उन्होंने कभी किसी कवि-सम्मेलन अथवा सभा का सभापति होना स्वीकार नहीं किया। कवि-सम्मेलनों में अपनी कविताएँ सुनाना उन्हें पसन्द न था।...... (वे) धार्मिक मनोवृत्ति के पुरुष थे।......शिव के उपासक......। आचार-व्यवहार में भी आस्तिक थे। किसी के हाथ की कच्ची रसोई खाने तथा जूता पहनकर पानी आदि पीने से परहेज रखने में भी वह दृढ़ थे। अपने अन्तिम समय तक जब पुजारी प्रतिदिन की तरह पूजा करके शिव का चरणामृत, बेलपत्र और फूल लाता तो वह उसे श्रद्धा से आँखों और मस्तक पर लगा लेते।

श्री रायकृष्णदास ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि "वसन्त में प्रसाद जी के यहाँ दो उत्सव बड़ी धूमधाम से होते—एक तो शिवरात्रि का, दूसरा होली का। वे कुलगत शैव थे और अपने संप्रदाय पर पूर्ण आस्था थी। दार्शनिकता उनमे पहले से थी ही। अतः आगे चल कर उनके सांप्रदायिक विचार बहुत उदार हो गये थे। शैव काश्मीर दर्शन, जिसका नाम प्रत्यभिज्ञान दर्शन है, और जिस में आनंदस्वरूप शिव—परमात्मा का प्रतिपादन है-जिसका अंश अविनाशी जीव है—उन्हें अत्यंत रुचिकर हुआ। यहाँ तक कि कामायनी की व्यंजना में उनका प्रतिपाद्य यही दर्शन है।" ..."शिवरात्रि के उत्सव में कितने ही लोग आमन्त्रित होते। नगर के ही नहीं, आसपास के देहातों के भी। घर के सामने ही एक छोटी सी बगीची में ऊँची कुर्सीवाला भव्य शिवमंदिर है। फूलपत्ती, बन्दनवार, कदली—स्तम्भ और झाड फानूस से उसकी सजावट होती। नौबत झरती। रात्रि में जागरण और नाच भी। भंग भी बनती। प्रसाद जी की तबीयतदारी उसमें काम करती। वे बंधे हुए नुसखों पर ही संतोष करनेवाले न थे। नई

नई उद्‌भावना किया करते। कोरी हाँडी में नारंगी के फूल भिगवा कर और संध्या को उस पानी को निथरवा कर ऐसी सौरभित ठंडाई वे बनवाया करते कि कभी बिसर नहीं सकती। शिवरात्रि के नृत्य-समाज की एक बात अकसर याद आती है। गायिका एक ग़ज़ल गा रही थी। उसकी एक तुक थी "बेकार आँख हो गई।" प्रमुख आमंत्रित व्यक्तियों में एक शुक्राचार्य भी थे। नर्तकी जब जब इस तुक को दुहराती, सबकी आँखें उनकी ओर चली जातीं और सब लोग हँस पड़ते। यह समाज मंदिर के सभामंडप में जमता। प्रसादजी पूजा-वेश में पीताम्बर पहने हुए निजमंदिर में रहते, जहाँ विस्तृत पूजा कलाप हुआ करता।....रात्रिका अखंड जागरण चलता और प्रसाद जी का अहर्निश उपवास भी।"

प्रसाद जी बड़े हास्यप्रिय थे। वह बड़ा सुन्दर मज़ाक करते थे।

उन्हे पुष्पों से अधिक प्रेम था। उन्होने अपने मकान के सामने एक छोटा सा बगीचा लगाया था...तरह तरह के फूलों की क्यारियाँ बनी थीं। गुलाब, जूही, बेला, रजनीगन्धा, इत्यादि जब फूलते तो मुग्ध होकर वे देखते।......पारिजात के वृक्ष के नीचे एक पत्थर की चौकी थी। उसी पर बैठ कर प्रसाद जी अपनी रचनाएँ सुनाते थे।" (आशा है, प्रसाद जी के मित्र एवं साहित्य प्रेमी उस ऐतिहासिक पारिजात वृक्ष और पत्थर की चौकी को चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न करेंगे।)

इतना सब पढ़ चुकने के बाद भी आप जानना चाहते हैं कि 'प्रसाद' जी कौन थे? किस वंश में उत्पन्न हुए? उनका पारिवारिक जीवन किस प्रकार व्यतीत हुआ?

प्रसाद जी का जन्म सम्वत् १९४६ में काशी में कान्यकुब्ज वैश्य वंश में हुआ था। आपके पूर्वज 'सुँघनीसाहु' कहलाते थे। आपके पितामह को काव्य के प्रति अनुराग था; दानी इतने थे कि लोग उनका 'जय महादेव' कहकर अभिवादन करते थे। कहते है कि काशी में अभिवादन का यह सम्मान या तो काशी-नरेश को प्राप्त रहा है या सुँघनीसाहु के व्यक्ति को। आपके यहाँ कविमण्डली जमती—समस्यापूर्तियों और कविता-पाठ की धूम मची रहती। 'प्रसाद' के मन पर इस वातावरण का प्रभाव पड़ा। आप लुक छिप कर 'कुछ' लिखा करते। बारह वर्ष की आयु मे ही आप पितृविहीन हो गए। स्कूली शिक्षा सातवें दर्जे से आगे नहीं बढ पाई। घर पर ही आपको संस्कृत,

अंग्रेज़ी पढ़ाने का प्रबंध किया गया। संवत् १९५७ में आपने अपनी माँ के साथ ओंकारेश्वर, उज्जैन, बृज आदि स्थानों की धार्मिक यात्रा की। मध्यप्रांत में नर्मदा के उद्गम स्थान—अमरकंटक—की यात्रा के समय उसकी वनश्री ने आपके हृदय में जो उल्लास, जो प्रेरणा दी वह आपको आजन्म स्मरण रही—विशेष कर पर्वतमाला के बीच नर्मदा के वक्षस्थल पर किया गया नौका-विहार का दृश्य सदा आपकी आँखों के आगे झूलता रहा।

पिता जी की मृत्यु के तीन वर्ष बाद ही आपकी माता ने सदा के लिए आपसे बिदा ले ली, और दो ही वर्ष बाद आपके ज्येष्ठ भ्राता भी आपको परिवार में एकाकी छोड़कर स्वर्गवासी हो गए।

यौवन की देहली पर पैर रखते ही प्रसादजी पर यह पारिवारिक आघात! तब क्यों आपके 'करुण कलित हृदय में असीम वेदना' न गरजती?

आपने श्रीमती महादेवी के समान अपनी सजल अनुभूति को मनोवैज्ञानिक आवरण में यह कह छिपाने का प्रयास नहीं किया कि—"मैंने जीवन में कभी वेदना का अनुभव नहीं किया। इसी से मैं वेदना से प्यार करती हूँ।"

आपका हृदय वस्तुतः आघातों से जर्जरित होता रहा। वैवाहिक जीवन में भी आपको दो बार पत्नी-वियोग सहना पड़ा।

सन् १९१० से आपकी साहित्य-सेवा का श्रीगणेश होता है—

आपके भान्जे बाबू अम्बिकाप्रसाद गुप्त ने "इंदु" को प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। 'प्रसाद' जी उसके प्रमुख लेखक और कवि थे। 'सरस्वती' में उस समय आपकी कोई रचना नहीं छपी। इसका कारण, यह कहा जाता है कि "प्रसाद जी का आचार्य द्विवेदी से कुछ मतभेद था।"

आपने साहित्य के प्रत्येक अंग—निबंध, कहानी, उपन्यास, नाटक और कविता की पूर्ति की और उनमें अपने व्यक्तित्व को अंकित किया। बहुमुखी-प्रतिभा सम्पन्न प्रसाद हममें अधिक काल तक न रह सके। हिन्दी के दुर्भाग्य से राज्ययक्ष्मा से पीड़ित हो आपने १५ नवम्बर १९३७ को अपनी इहलीला समाप्त की।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने आपके निधन पर लिखा था:—

'जयशंकर' कहते-कहते ही अब भी काशी आवेंगे।
किन्तु 'प्रसाद' न विश्वनाथ का मूर्तिमान हम पावेंगे।
तात, भस्म भी तेरे तनु की हिन्दी की विभूति होगी।
पर हम जो हँसते आते थे, रोते रोते जावेंगे॥

